Chapter - 2

अध्याय : दो

:: प्रेमचन्द का जीवन-संघर्ष ::

:: अध्याय : दो ::

:: प्रेमचन्द का जीवन- संघर्ष ::

सृजन-कार्य के पीछे संघर्षशील पीड़ा या यातना कारणभूत होती है । इसके अभाव में मानवीय संवेदना या मानवीय संवेदनाओं की स्फुरणा संभव नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान विधाता ने भी अपने एकाकी-पन की यातना को विस्मृत करने हेतु ही इस सृष्टि की रचना की होगी । "एकोहम् बहुस्याम" आखिर किसे कहते हैं ? दरअसल किसी भी रचना का मार्ग संघर्ष व पीड़ा की राह से ही गुजरता है । जब तक किसी लेखक या कवि का दर्द से सही सरोकार नहीं होगा , तब तक वह मानवीय संवे-दना से परिपूर्ण रचना नहीं दे पायेगा । कहा भी गया है --- " जाके पांव न फटे बिवाई , सो क्या जाने पीर पराई ? " गुजराती के एक कवि ने कहा है ---

"दुःखीना दुःखनी वातो सुखी ना समजी शके ,
सुखी जो समजे पूरूं , दुःख ना विश्वमां टके. " ।

अर्थात् सुखी-सम्पन्न व्यक्ति दुखियों के दर्द को नहीं समझ सकता , यदि

समझता , तो क्या दुःख अभी तक विश्व में रहता ?

इतना तो वैश्विक इतिहास में निरूपित महापुरुषों के जीवन के अध्ययन से भी प्रतिफलित होता है कि उनका जीवन संघर्ष की एक अनवरत यात्रा रहा है । और उनकी सफलता का रहस्य भी उन्हीं संघर्षों के बीच में प्रतिष्ठित होता है । गुजराती के कवि उमाशंकर जोशीजी ने कहा है — " मने मारी निष्फलता ओप्युं , तेथी थयो सफल हुं केवळ निष्फळताओ । " हिन्दी के लेखक गुलाबराय जी की तो आत्मकथा का नाम ही "मेरी असफलताएँ " है ।[2] इसी अभिप्राय का एक शेर भी मिलता है —

"मुकम्मल होता है इन्सान , ठोकरें खाने के बाद ,
रंग लाती है हीना , पत्थर पर घिस जाने के बाद । "[3]

मेरे निर्देशक डा. चारुकांत देसाईजी ने भी अपनी एक पुस्तक की भूमिका में लिखा है —

" हम भी दुनिया में आते , खाते , चले जाते ;
पर मिला दर्द का मोती, तो सोचा कुछ लिख जाते । "[4]

गरज यह कि किसी भी लेखक के लेखन के पीछे , उसके लेखकीय अनुभवों के पीछे एक मुकम्मल संघर्ष-यात्रा रहती है , जिसके अभाव में वह कविता ही न रहती जो उसके लेखन का प्राण-तत्त्व है । हमारे आदि महाकाव्य रामायण की सृष्टि के पीछे भी क्रौंचवध की मर्मभेदी घटना है । यही तो अंतर होता है एक सामान्य मनुष्य और एक कवि में , एक ऋषि में , जहाँ सामान्य मनुष्य अपने ही दुःखों को रोता है , वहाँ लेखक या कवि पर-पीड़ा को भी गले से लगा लेता है । हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार शैलेश मटियानी इसे ही कलाकार का वाल्मीकि-धर्म कहते हैं । " मेरी मान्यता यह रही है कि यदि साहित्यकार स्वयं शोषित या पीड़ित न भी रहा हो , तो भी उसे शोषितों-पीड़ितों का पक्षधर होना ही चाहिए , न कि शोषकों का ।वर्ण-वर्ग व्यवस्था और वादों से परे , साहित्यकार की एक अलग स्थिति होती है , जहाँ वह तटस्थ भाव से साहित्यिक-सृजन

के अतिरिक्त , "कांचघर" की कल्पना से सर्वविदित और व्यापक की हिंसा-वृत्ति के प्रति क्रुद्ध होता है । वाल्मीकि-धर्मी साहित्यकार यदि पीड़ितों अभिशप्तों के प्रति संवेदना-सहानुभूति नहीं रखता , तो वह जन-कल्याण के संगमरमरी सोपानों से लुढ़ककर , जन-शोषकों की कुत्सित शरण में ठौर पाता है और उसका स्वधर्म सिर्फ यशार्जन , धनार्जन और पुस्तकों के प्रकाशन तक ही सीमित होता है । " [5]

इसी दर्द को प्रेमचन्दजी मानस-मणि का रूपक देते हैं ।[6] जिस प्रकार एक मणिधर सर्प अपने मणि के प्रकाश में विचरण करता है , उसी प्रकार किसी भी लेखक का लेखन भी उसमें अन्तर्निहित दर्द के मानस-मणि के इर्द-गिर्द ही विचरण करता है । बिना पीड़ा या यातना की अंतर्प्रेरणा के कदाचित् महान साहित्य नहीं रचा जा सकता ।

प्रेमचन्दजी को जिन यातनाओं से , यंत्रणाओं से , गुजरना पड़ा , जो संघर्ष उन्हें झेलने पड़े, वे संघर्ष और यंत्रणाएं यदि न होतीं , तो प्रेमचन्द प्रेमचन्द न होते । जिस मानवीय संवेदना और सम्पृक्ति की हम बात करते हैं , प्रेमचन्द के संदर्भ में , उसका अभाव होता । प्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजू बावरा के संबंध में एक किंवदंती प्रचलित है कि जब तक उसने प्रेमाभिभूत वियोग का अनुभव नहीं किया था , तब तक उसकी गायकी में दर्द का संगीत नहीं था । अभिप्राय यह कि संघर्षपूर्ण जीवन किसी लेखक या कवि की रचना-सृष्टि को प्राण-तत्त्व देता है ।

अतः प्रस्तुत अध्याय में प्रेमचन्द के जीवन-संघर्ष के नाना आयामों को विश्लेषित करने का उपक्रम है । शोध-प्रबंध के विषय की भी यही मांग है ।

(क) शैशवकालीन संघर्ष

संसार के इतिहास तथा उसके महान चरित्रों से एक तथ्य भलीभांति उद्घाटित होता है , वह यह कि उनके जीवन के गठन या बुनावट में उनके जीवन में घटित 'शैशवकालीन संघर्षों' का महत्व अपरिहार्य

रहता है । शैशवकालीन प्रभाव किसीके भी लेखन को बहुत दूर तक प्रभावित करते हैं । जब किसीका शैशवकाल संक्रमणशील या संघर्षशील स्थितियों से गुजरता है, तो उसकी दो परिस्थितियाँ संभव हैं — या तो वह बच्चा पथभ्रष्ट होकर आवारा, बदमाश, चोर या गिरहकट हो जायेगा या फिर संघर्ष की अग्नि में तपकर कुंदन की तरह चमककर बाहर आयेगा । प्रथम की संभावना ज्यादा है, दूसरी की कम । परंतु यह दूसरी संभावना ही मानवता की झोली को भरती रही है । प्रेमचंद का जीवन भी संघर्ष का एक [illegible] [illegible] इतिहास है । परंतु इन संघर्षों ने प्रेमचन्द के लेखन की पृष्ठभूमि को तैयार किया है ।

प्रेमचन्द्र के पूर्वज उत्तर-भारत में कायस्थ कही जाने वाली श्रीवास्तव जाति से संबंधित हैं । यह जाति मोगल काल से ही सरकारी कामकाज में बड़ी दक्ष और चतुर समझी जाती रही है । उनके पूर्वज लमही के पास ऐरे गांव में रहते थे । उनके पितामह मुंशी गुरसहायलाल लमही के पटवारी थे और उनका परिवार बड़े शानो-शौकत से रहता था । पटवारगिरी के दरमियान थोड़े ही वर्षों में उन्होंने लगभग साठ बीघा जमीन अर्जित कर ली थी ।[7]

मुंशी गुरसहायलाल के चार पुत्र थे — कौशिकलाल, महावीरलाल, अजायबलाल और उदितनारायणलाल । इनमें महावीरलाल ने अपने बुद्धि-चातुर्य द्वारा अपने पिता को प्रभावित करते हुए सारी जमीन अपने नाम करवा ली । बाद में उनके ही एक दूर के रिश्तेदार ने यह जमीन उनसे भी हड़प ली और उनके पास केवल छः बीघा जमीन रह गई ।[8] यह जमीन महावीरलाल के पुत्र बलदेवलाल को मिली । अतः मुंशी गुरसहायलाल के दूसरे पुत्रों को अपनी पैतृक संपत्ति छोड़कर सरकारी नौकरी पर ही निर्भर रहना पड़ा । इस संबंध में मनोहर बंदोपाध्याय लिखते हैं — " व्हाइल महावीरलाल लिव्ड ओन फार्मिंग, द अदर ब्रदर्स हैड टु लुक फोर गवर्नमेण्ट जोब्स फोर देर लिवलीहुड. एवेन्चुअली ओल द थ्री टुक अप जोब्स इन पोस्टल डिपार्टमेण्ट. "[9]

गुरुसहायलाल की मौत के पश्चात् महावीरलाल के चचेरे भाई हरनारायणलाल ने अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों में फँसाकर उनकी साठ बीघा जमीन पर कब्जा कर लिया, यह पहले बताया जा चुका है। अब इस परिवार के पास केवल छः बीघा जमीन रही, जिस पर पूरे परिवार का गुजर-बसर असंभव था। अतः कौलेश्वरलाल को डाकखाने में नौकरी करना पड़ा। उन्होंने अपने छोटेभाई अजायबलाल को (प्रेमचन्द के पिता) अपने ही विभाग में भर्ती करवा लिया। जिन्होंने(?) अजायबलाल ने मासिक दस रुपये के वेतन से अपनी नौकरी शुरू की जो रिटायर के समय चालीस रुपये तक पहुँची।[10]

अजायबलाल ने अपने छोटेभाई उदितनारायण को भी डाकखाने में नौकरी दिलवा दी। कौलेश्वरलाल तीस साल की छोटी उम्र में ही दिवंगत हो गये। उनकी विधवा कुछ दिन तक लमही रही, फिर अपने बच्चों को लेकर चुनार नामक गाँव में रहने लगी। उनका लड़का मोतीलाल भी तीस साल की ही उम्र में विधवा पत्नी और चार बच्चों को छोड़कर मर गया। छोटे भाई उदितनारायण को गबन के सिलसिले में सात साल की सजा हो गई। जब लौटे तो शर्म के मारे किसीको मुँह न दिखा सके और फिर ऐसे चले गये कि किसीको कुछ पता नहीं चला। उनका लड़का आवारा निकल गया और वह भी घर से भाग गया।[11]

इतने बड़े परिवार का निर्वाह छः बीघे जमीन से करना बहुत ही मुश्किल था। कमानेवाले पूरे परिवार में केवल अजायबलाल थे। अपनी तनख्वाह में से कुछ रुपये कौलेश्वर की विधवा को भेजते, कुछ मोतीलाल की विधवा को, कुछ उदितनारायण की पत्नी और बच्चों को भी भेजते। इसके अलावा उनकी लड़की की शादी भी उन्होंने की और अपने दूसरे रिश्तेदारों को भी वे यथासंभव कुछ-न-कुछ सहायता करते रहते थे। अतः आर्थिक दृष्टि से वे सदैव चिंतित रहते थे और इसका प्रभाव उनके परिवार और बच्चों पर भी पड़ता था, जिसका संकेत प्रेमचन्द ने अपने निम्नलिखित कथन में किया है —

"मुझे महीने में बारह आने फीस लगती थी । इन बारह आनों में से मैं एकाध आना हर महीने खा जाता था । जिस मुहल्ले में मैं रहता था , उसमें छोटी जात के लोग रहते थे । वे लोग मुझ से लेकर दो-चार पैसे खा लेते थे । घर में मां तो थी नहीं । चाची ही से मांगता । वे बुरी तरह से झल्लाती थीं । पिता को कहने की हिम्मत न थी । इसलिए माताजी की याद मुझे बार-बार सताती थी ।" [12]

प्रेमचन्द के पिता अजायबलाल सरल प्रकृति के व्यक्ति थे । हिन्दू धर्मशास्त्रों का थोड़ा-बहुत अध्ययन भी था उन्हें , तथापि स्वभाव से वे रूढ़िग्रस्त या परंपरावादी कम थे । प्रेमचन्दजी की माता आनंदीदेवी भी सरल, भावुक, घर एवं पति का ध्यान रखनेवाली एक सहज घरेलू महिला थीं । गरीबों तथा दीन-दुखियों के प्रति वे बड़ी उदार थीं । परन्तु प्रेमचन्दजी मां की उस अतुलनीय वत्सलता से वंचित रहे , क्योंकि आठ साल की उम्र में उनका देहांत हो गया । मां की मृत्यु के बाद उनकी बहन सुग्गी भी ससुराल चली गई । दादीमा बीमार पड़ी और चल बसी गई । अतः अजायबलाल ने देखा कि बिना पत्नी के गृहस्थी को चलाना एक दुश्वार कार्य है । अतः उन्होंने दूसरा विवाह किया । प्रेमचन्दजी अपनी विमाता को चाची कहते थे । पर चाची उनके साथ बहुत दुर्भांत करती थी । अजायबलाल ने बुढ़ापे में शादी की थी , अतः जवान पत्नी बूढ़े पति पर रूआब जमाती थी । पर वे बेचारे विवश थे । विमाता के खौफ को दूर करने के लिए दादी थोड़े समय के लिए आयीं , परन्तु प्रेमचन्दजी के दुर्भाग्य से थोड़े ही दिनों में वह भी परलोक सिधार गयीं । दादी की मृत्यु के बाद विमाता का दुर्व्यवहार और भी ज्यादा बढ़ गया । अतः प्रेमचन्दजी प्रायः घर से बाहर ही रहने लगे । [13] इसका एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि प्रेमचन्दजी बुरी संगत में पड़कर तम्बाकु , बीडी और हुक्का का सेवन करने लगे और कुछ ऐसी बातें भी सीख गये जो उनकी उम्र के बच्चों के लिए हितकर नहीं होती । इस सन्दर्भ में मनोहर बंदोपाध्यायजी ने लिखा है --- " ही हैड इन ए मिसलेनियस

फालन इण्टू बेड कंपनी. और फ्रोम स्टेप-मदर्स टायरनी इन द हाउस, ही वुड स्पेण्ट टाईम्स इन स्पोर्टस फोर मोस्ट आफ द टाईम. ही टुक स्मोकिंग एण्ड एट द टेण्डर एज आफ थर्टिन हेड लर्न्ड सच थिंग्स व्हीच इज डेन्जरस फोर द पिफ्टीन आफ ऐट एज. "[14]

उन्हीं दिनों में उन्हें चोरी की आदत भी पड़ गयी थी । एक दिन उन्होंने बलभद्र से मिलकर घर से एक रुपया उड़ाया था । दिनभर मटरगश्ती करके जब शाम को घर पहुँचे तो उनके पिताजी ने पूछा कि उन्होंने एक रुपया चुराया है कि नहीं । मुँह से केवल इतना निकलने पर कि " मैंने कहाँ ... मुँह से पूरी बात भी न निकल पाई थी कि पिताजी ने विकराल रूप धारण किये, दाँत पीसते झपटकर उठे और हाथ उठाये मेरी ओर चले । मैं जोर से चिल्लाकर रोने लगा । ऐसा चिल्लाया कि पिताजी भी सहम गये । "[15] उनका हाथ उठा ही उठा रह गया । सोचने लगे कि इसका अभी से यह हाल है तो तमाचा पड़ जाने पर कहीं उसकी जान ही न निकल जाय । नवाब ने जब देखा कि यह हिकमत काम कर गई तो और भी गला फाड़-फाड़कर रोने लगे । इतने में मंडली के दो-तीन आदमियों ने पिताजी को पकड़ लिया और नवाब को इशारा किया कि भाग जा । नवाब चुपके से खिसक गये । इस प्रकार नवाब तो सस्ते में छूट गये, पर बलभद्र की बुरी तरह पिटाई हुई थी ।[16]

उन्हीं दिनों में नवाब के पिताजी को शराब की लत लग गई थी, जिसका सांकेतिक चित्रण प्रेमचन्दजी ने कुछ इस प्रकार किया है — " पिताजी का स्वास्थ्य इन दिनों में कुछ खराब हो गया था । छुट्टी लेकर घर आये हुए थे । यह तो नहीं कह सकता कि उन्हें शिकायत क्या थी, पर मुँह की लाल आते थे और रोज शाम शीशे के गिलास में एक बोतल में से कुछ उंडेल-उंडेल कर पीते थे । शायद यह किसी तजुर्बेकार हकीम की बताई हुई दवा थी । दवाएं सब बास वाली और कड़वी होती हैं । यह दवा भी बुरी ही थी, पर पिताजी न जाने क्यों बड़ा ही मजा ले लेकर पीते थे । हम जो बड़ा पीते हैं तो आँखें बन्द करके एक

एक ही घूंट में गटक जाते, पर आयास यह दवा का असर धीरे-धीरे पीने में ही होता है । जिगर के पास नवाब के दो-तीन और कभी-कभी पांच-पांच रोगी भी जमा हो जाते और घंटों दवा पीते रहते । " 17

वस्तुतः नवाब जिसे दवा समझ रहे थे वह शराब ही थी । अभिप्राय यह कि नवाब को अपने बचपन में ही ऐसे अनेक विषयों का ज्ञान हो गया था जो एक बच्चे के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता ।

मां की मृत्यु नवाब को नागवार गुजरती है । उस समय नवाब बहुत छोटे थे, उन्हें पता न था कि लोग क्यों रो रहे हैं । परन्तु जब समझ में आया तब इतना रोये कि अपने साहित्य में आजीवन मातृप्रेम का वर्णन करते रहे । विमाता के त्रास से बचकर रहने के लिए नवाब दिन का अधिकांश समय बाहर ही गुजारते थे, फलतः कुसंगति के कारण कुछ खराब आदतें भी उन्हें पड़ी । विमाता के त्रास के कारण ही नवाब काल्पनिक दुनिया में रहने लगे । उन दिनों वे एक तम्बाकूवाले के मकान पर चले जाया करते थे । इस तम्बाकू वाले का लड़का नवाब का सहपाठी था । तम्बाकू के बड़े-बड़े थाले पिण्डों के पीछे बैठकर तम्बाकू वाला और उसके कई मित्र हुक्का पीते और "तिलिस्म-ए-होशरुबा" की अटूट तिलस्मी कहानियां सुनते । इस ग्रंथ के 17 भाग निकल चुके थे । एक-एक भाग बड़े आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा । इन 17 भागों के उपरांत उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पच्चीसों भाग छप चुके थे, जिसने इतने बड़े ग्रंथ की रचना की, उसकी कल्पना-शक्ति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है । कहते हैं कि ये कथाएं मौलाना फैजी ने अकबर के विनोदार्थ फारसी में लिखी थीं । इतनी वृहद कथा संसार की किसी अन्य भाषा में शायद ही हो । पूरा "इन्साइक्लोपीडिया" समझ लीजिए । नवाब इन कहानियों के रंग में ऐसे डूबे, उनकी कल्पना कैसी जगी और उस युग में तिलस्मिक कहानियों का जो बीज पड़ा वह आगे चलकर एक विशाल वृक्ष बन गया । 18

बालक धनपतराय या नवाबराय की किशोरकाल में अनेक अभावों

से गुजरना पड़ा । मुंशी अजायबलाल अपने ही कस्बे के डाकखाने में मुलाजिम थे । आमदनी सीमित थी । चादर देखकर पैर पसारते थे । थोड़ी तनख्वाह के कारण बहुत-सी इच्छाओं का खून करना पड़ता था । ऐसी स्थिति में बालक धनपतराय के इरादे कैसे पूरे हो सकते थे । ऐसे अभावग्रस्त वातावरण में बच्चे के×को×बच्चे××××के का जो तौर-तरीका और स्वभाव बन जाता है, उसका पता हमें धनपतराय के बचपन से मिलता है । उदाहरणतः उन्हें बचपन से पैसे जमा करने की आदत थी, जो बाद में छूट गई, क्योंकि बाद में गरीबी इतनी बढ़ी कि घर भी पैसे-पैसे चलते थे । अतः पैसे जमा करने का प्रश्न ही नहीं उठता । डाकखाने का क्लर्क अपने बेटे को अधिक पैसे देने का सामर्थ्य नहीं रखता । घर का खर्च भी सुगमता से नहीं चलता था । इसलिए धनपतराय दूसरे बच्चों की तरह मनभायी चीजों के लिए हमेशा तरसते रहते थे । "होली की छुट्टी" नामक कहानी में प्रेमचन्द ने अपने ही शैशवकालीन अभावों को वाणी प्रदान की है । इसका समर्थन शिवरानी देवी ने भी अपनी पुस्तक "प्रेमचन्द घर में" किया है ।[17] कहानी का नायक माँ के पैसे लेने जाने पर घर में थोड़ा गुड़ चुराकर खा लेता है । अभावग्रस्त जिन्दगी में बच्चों को ऐसी आदतें अक्सर पड़ जाती हैं । चीनी और स्वादिष्ट भोजन प्रेमचन्द की खास कमजोरी रहे हैं । क्योंकि बचपन के अभावग्रस्त जीवन ने उनको इतना क्षुधित रखा कि उससे वे आजीवन छुटकारा नहीं पा सके ।

प्रेमचन्द स्नेह से प्रायः वंचित रहे । उनका शैशव हमेशा लाड़-दुलार और प्यार के लिए तरसता रहा । माँ शुरू से बीमार रहती थी । बाप को दवा-दारू से फुरसत नहीं मिलती थी । अभी धनपतराय सात-आठ साल के बालक ही थे कि उनकी माता का भी देहांत हो गया । माँ की अकाल मृत्यु ने शिशु बालक के मन पर कठोर आघात किया । प्रेमचन्द इस आघात को कभी नहीं भूल सके । उनकी अनेक कहानियों और उपन्यासों में उसकी छाप साफ देखी जा सकती है । "कर्मभूमि" उपन्यास का नायक अमरकांत भी माँ के स्नेह के लिए तड़पता है । अतः अमरकांत के रूप में मानो प्रेमचन्दजी ही यहाँ बोल रहे हैं — " ज़िंदगी की वह उम्र

जब इन्सान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है, बचपन है। उस वक्त पौदे को तरी मिल जाये तो, जिन्दगी भर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खुराक न पाकर उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है। मेरी माता का उसी जमाने में देहान्त हुआ और तब से मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वही भूख मेरी जिन्दगी है। मुझे जहाँ मुहब्बत का एक रेज़ा भी मिलेगा, मैं बेअख्तियार उसी तरफ जाऊँगा। कुदरत का अटल कानून मुझे उस तरफ ले जाता है। इसके लिए अगर मुझे कोई खतावार कहे तो कहे। मैं तो खुदा ही को जिम्मेदार कहूँगा। .... दुनिया में सबसे बदनसीब वह है, जिसकी माँ मर गयी हो।" 20

बाल्यावस्था में माँ की मृत्यु निश्चित रूप से एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। परंतु उससे भी बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह रही कि उनके पिता ने थोड़े ही समय में दूसरा विवाह कर लिया। नन्हे धनपत-राय का ऐसी विमाता से पाला पड़ा जो उनके साथ बहुत ही निष्ठुरता से पेश आती थी। इस मनोव्यथा को "सौतेली माँ" नामक कहानी में प्रेमचन्द ने बहुत अच्छी तरह चित्रित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके एक-एक शब्द में प्रेमचन्द ने अपने दर्द को भर दिया है। उसमें सर्वाधिक करुणाजनक स्थल तो वह है, जहाँ बच्चा दीवार की ओर मुंह करके खड़ा-खड़ा रो रहा है, लेकिन बाप के आने पर झटपट आँखें पोंछ लेता है। उसकी आँसुओं से भीगी हुई आँखों को देखकर, जब उसका पिता पूछता है -- "तू रोता क्यों है था ? क्या तुझे तेरी माँ ने पीटा था ?" तो बच्चा जवाब देता है -- "नहीं, वह तो बहुत अच्छी है।" 21 यहाँ उस रोते बच्चे की विवशता मानो धनपतराय की ही विवशता है। इस प्रकार मातृहीनता, विमाता का निष्ठुर व्यवहार, पिता की उपेक्षा, और उदासीनता, यही वातावरण था जिसमें बालक धनपतराय का बचपन बीता।

माता-पिता के प्रेम से वंचित रहने के कारण प्रेमचन्द के बचपन में एक आवारगी-सी मिलती है। वे कई-कई दिन तक स्कूल न जाते थे।

मुंशी प्रेमचन्द जाति के कायस्थ [श्रीवास्तव] थे । ये लोग प्रायः सरकारी नौकरी के द्वारा जीविका अर्जित करते थे । अतः उर्दू-फारसी की शिक्षा पर अधिक बल देते थे , क्योंकि उन दिनों में कोर्ट-कचहरी तथा सरकारी कामकाज में ये ही भाषाएं चलती थीं । अतः बालक धनपतराय की शिक्षा भी उसी कायस्थ-परंपरा के अनुसार हुई और उन्होंने मदरसे जाना शुरू किया । अपने मदरसे जाने का हाल उन्होंने अपनी एक कहानी "चोरी" में किया है — " मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गांव में एक मौलवी साहब के यहां पढ़ने जाया करता था । मेरी उम्र आठ साल थी । हलधर [अब वे स्वर्ग में निवास कर रहे हैं] मुझसे दो साल जेठे थे । हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटियां खा , दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे । फिर तो सारा दिन अपना था । मौलवी साहब के यहां कोई हाजिरी का रजिस्टर तो था नहीं , और न गैरहाजिरी का जुर्माना ही देना पड़ता था । फिर डर किस बात का ! कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की कवायद देखते , कभी किसी भालू या बंदर नचानेवाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते । कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते । गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमको था , उतना शायद टाइम-टेबल को भी न था । ...कभी-कभी हम हफ्तों गैरहाजिर रहते , पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी चढ़ी हुई त्योरियां उतर जातीं । " [22]

इस उद्धरण से मालूम तो पहले ही हो जाता है कि धनपतराय को मदरसे , मौलवी और पाठ्य-पुस्तक की किताबों से कोई दिलचस्पी नहीं थी । मदरसे की "तोता रटन्त" से वे खुले वातावरण में घूमना , गोलियां खाना , और मेलाबाजार घूमना अधिक पसंद करते थे । इस आवारगी में उनका चचेरा भाई भी उनका साथ देता था , जो उम्र में उनसे दो साल बड़ा था । एक बार घर से उन्होंने चाचा का एक रुपया चुराया और दरिया के किनारे पर बैठकर मिठाई और फल खाये । बाद में चोरी का पता लगने पर , चचेरे भाई की खूब मरम्मत हुई । इसके

कुछ समय बाद मुंशी अजायबलाल की तरक्की हो गई और उन्हें डाक-मुंशी बनाकर गोरखपुर भेज दिया गया । धनपतराय भी पिता के साथ देहात से शहर में आ गये । अब मदरसे के स्थान पर स्कूल में पढ़ने लगे । यद्यपि स्कूलों में भी बच्चों के मानसिक विकास का ध्यान नहीं रखा जाता था, क्योंकि विदेशी शासक अंग्रेजों का प्रयोजन हिन्दुस्तानियों को शिक्षित करना नहीं, बल्कि अपनी सरकारी अमलदारी के लिए क्लर्क पैदा करना था, तथापि ये स्कूल मदरसों से तो काफी अच्छे थे । यहाँ आकर धनपतराय वास्तव में पढ़ाई के पीछे कुछ ध्यान देने लगे ।

धीरे-धीरे नवाबराय (धनपतराय) बड़े हो रहे थे । जब वे चौदह के थे, उस समय की बात अमृतराय इन शब्दों में दर्ज करते हैं — " अभी उसकी उम्र चौदह साल है, बचपन के बीत जाने की उम्र नहीं है । केवल वयःसंधि है । पर यह सब अब थोड़े दिनों का खेल है । माँ को मरे छः साल बीत चुके हैं । इस बीच उसने बहुत कुछ देखा है, सहा है, सीखा है और अकाल-प्रौढ़ता, जो कुछ तो उसकी प्रतिभा का वर-दान है और कुछ उसकी परिस्थितियों का, उसका दरवाजा खटखटा रही है । " [23]

गोरखपुर के मिशन स्कूल से आठवाँ पास किया । अब नवें दर्जे में नाम लिखाना था जो बनारस में ही संभव था । उन दिनों उनके पिता की बदली जमनिया हो गई थी और उनकी सेहत भी कुछ गिर गई थी । पिताजी ने जब पूछा कि कितना खर्च लगेगा, तब धनपतराय ने कहा कि पाँच रुपये । भला पाँच रुपयों में क्या होनेवाला था, पर पढ़ने की धुन के कारण तभी से ट्यूशन वगैरह करके अपना कुछ खर्च से निकाल लेते थे । उन दिनों के अपने संघर्ष की बात प्रेमचन्दजी ने जो लिखी है वह ध्यातव्य है — " पाँव में जूते न थे । देह पर साबित कपड़े न थे । महँगी अलग — दस सेर के जौ थे । स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी । काशी के क्वीन्स कालेज में पढ़ता था । हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी । इम्तहान सिर पर था और मैं बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था । जाड़ों के दिन थे । चार बजे पहुँचता था ।

पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता । वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच [illegible] मील पर था । तेज़ चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता । और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, नहीं वक्त पर स्कूल न पहुँचता । रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता । फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था ।" [24]

नवाब जब नवीं में थे तभी उनके नाना की सलाह पर उनका विवाह उनसे उम्र में ज्यादा बड़ी, काली, भद्दी, झगड़ालू, चेचक, अफीम खानेवाली और भचककर चलने वाली एक औरतनुमा लड़की से कर दिया ।[25] मुंशी अजायबलाल को जब पता चला तो हिम्मत बटोरकर पत्नी से कह दिया — "लालाजी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया । मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह बीवी । मैं तो उसकी दूसरी शादी करूँगा । पत्नी ने कहा — देखा जायगा ।" [26]

सन् 1897 में धनपतराय को मैट्रिक का इम्तहान देना था, पर पिताजी की बीमारी, और बाद में उनकी मृत्यु के कुठाराघात के कारण वे इम्तहान न दे पाये । छोटी-सी उम्र में पिताजी सौतेली माँ तथा भाइयों का भी बोझ नवाब के कंधों पर डाल गये । दूसरे साल मैट्रिक तो किया पर सेकिण्ड डिविजन के कारण उनके कालेज में पढ़ने के सपनों पर तुषारापात हो गया । इस प्रकार प्रेमचन्द का सपना नहीं बन पाया ।

[ब] आर्थिक एवं पारिवारिक संघर्ष

प्रेमचन्द के जीवन में आर्थिक एवं पारिवारिक संघर्ष ता-ज़िन्दगी बना रहता है । वैसे प्रेमचन्द के दादा गुरसहायलाल पटवारी थे और इसी पटवारगिरी में साठ-पैंसठ बीघा जमीन खरीद ली थी । वे खाते-पीते शौकीन तबीयत के आदमी थे । उनके चार पुत्र थे — कौलेश्वरलाल, महावीरलाल, अजायबलाल और उदितनारायणलाल । गुरसहायलाल पियक्कड़

थे और जब-तब अपनी पत्नी पर पिल पड़ते थे । कौलेश्वरलाल, अजायबलाल और उदितनारायणलाल माँ को पिटती देखकर सहमकर चुप हो जाते, पर दूसरे नंबर के महावीरलाल तगड़े थे और बाप को पकड़कर भिड़ा देते । अतः यह अनपढ़ महावीरलाल माँ-बाप दोनों के चहेते थे । फलतः गुरसहायलाल ने अपनी कुल साठ बीघे आराज़ी महावीर के नाम कर दी थी, क्योंकि "जोरू और ज़मीन के बारे में मशहूर है कि ये दोनों उस आदमी के पास रहती हैं जिसका शरीर ताक़तवर और लाठी मज़बूत होती है ।"[27]

कुल छः बीघा जमीन अपने पास रखी और बाद में वह भी महावीरलाल के पुत्र बलदेवलाल के नाम कर दी । यही छः बीघा पुश्तैनी जमीन बाद में इस परिवार के पास रही, क्योंकि गुरसहाय के निधन के उपरांत महावीर के एक दूसरे दूर के चचेरे भाई ने महावीर को सब्ज़-बाग दिखाकर वह साठ बीघा ज़मीन उनसे हथिया ली ।[28] और तबसे इस परिवार की आर्थिक अवनति की शुरुआत हो गई ।

इतने बड़े परिवार का निर्वाह छः बीघे जमीन पर तो होने से रहा । फलतः दूसरे भाइयों ने सरकारी नौकरी की राह पकड़ी । कौलेश्वरलाल डाकखाने में लगे थे । उन्होंने अजायबलाल को भी अपने महकमे में भर्ती करवा लिया और अजायबलाल ने अपने छोटे भाई उदित-नारायण को डाकखाने में ही नौकरी दिलवाई । यों यदि ये तीनों भाई सरकारी नौकरी में रहते तो कोई खास आर्थिक परेशानी न उठानी पड़ती । परंतु नसीब में कुछ और ही बदा था । कौलेश्वरलाल की मृत्यु तीस साल की उम्र में ही हो गई । उनका लड़का मोतीलाल भी तीस साल की वय में ही परलोक सिधार गया और पीछे अपनी विधवा स्त्री और चार बच्चों को छोड़ गया ।[29] उदितनारायण को सरकारी गबन के जुर्म में सात साल की सज़ा हो गई और फिर लौटे तो मारे शर्म के किसीको मुंह नहीं दिखा सके । उनका क्या हुआ, कुछ पता न चला । उनका लड़का भी आवारा निकल गया और घर से भाग गया । दो लड़कियां थीं, उनमें से एक की शादी हो चुकी थी, दूसरी की शादी

करनी थी । और यह सारा पारिवारिक बोझ अब अजायबलाल को उठाना था । उन्होंने अपनी नौकरी दस रुपये महीना शुरू की थी और ~~xxxx~~ और निवृत्ति से पूर्व चालीस तक पहुँचे थे ।[30] परंतु अपने परिवार के बोझ को संभालने के लिए वे अतिरिक्त काम भी करते थे । अनपढ़ कुर्मियों के नाम पर चिट्ठी-पत्री लिखना , उनके नाम आये पत्र पढ़ना और मनीआर्डर फार्म इत्यादि भरना , ऐसे कामों के कारण उन्हें गेहूँ, चावल, सब्जी , दूध इत्यादि मिल जाया करता था ।[31]

अपनी तनख्वाह में से कुछ रुपये अजायबलाल अपनी विधवा भाभी को भेजते , कुछ मोतीलाल की विधवा को और कुछ उदितनारायण की बीवी और बच्चों को भेजते । भाई की लड़की की शादी भी उन्होंने ही की । अन्य नाते-रिश्तेदारों को भी यथाशक्ति कुछ-न-कुछ सहायता करते रहते थे । दो रिश्तेदारों को तो उन्होंने डाकखाने में नौकरी भी दिलवाई । अपने इस स्वभाव के कारण उनका हाथ हमेशा तंग रहता था ।[32] गुजराती में इसके लिए एक बड़ा अच्छा शब्द है --- ढसरड़ा । याने अजायबलाल को ताज़िन्दगी अपने परिवार का यह ढसरड़ा करना पड़ा और यही "ढसरड़ा" प्रेमचन्द को भी विरासत में मिला ।

यह पहले निर्दिष्ट किया गया है कि प्रेमचन्द जब नवीं कक्षा में बनारस के क्वीन्स कालेज में दाखिल हुए , तब उन्हें अपने पिता की ओर से पांच रुपये मिलते थे । अतः उन्हें ट्यूशन भी करना पड़ता था और यह सब करके पैदल अपने गांव रात को आठ बजे पहुँचते थे । प्रेमचन्द की इन दिनों की जो आर्थिक स्थिति थी उसका चित्रण मनोहर बंदोपाध्याय ने इन शब्दों में किया है ---- " बट ऑफन दे नॉट प्रेमचन्द हैड टु बोरो मनी एण्ड हट वाज़ नॉट पॉसिबल टु मैनेज फ्रॉम टु कपिल पार द एन्टायर मन्थ। अकॉर्डिंग टु रीति द नौन इन टाइम्स ही हैड टु पुट अप विथ ग्रेट एगोनी एण्ड हैड टु अवोईड द नोटिस आफ द मनी-लेन्डर्स फोर फियर आफ पब्लिक इनसल्ट। ही यूज़ टु कम्प्लेन टु मी टु एण्ड हाफ कम्पिसु टु द एनीमीज़ ऑफ मैन्यूअल ग्रीन ग्रेन ही हैड नॉट हाउ कलेक्शन.

ए गार्डनर हूम ही टोट 'हिन्दी', ही कार्ड द वहद आनाग्र ही हैड बोरोड फ्राम होम आफ्टर फाइव इयर्स एण्ड "माक्ड आल द वे टु माय विलेज इन आर्डर टु बु सो." हेड हेण्डसम इनकम हाउ और अदर कम्टीन्यूड टु बी एन एण्डलेस प्रोब्लेम इन हिज फाइनेन्स और मोरल आफ द पीरियड पर्टीकुलरली इन द लेटर लेटर इयर्स. द क्रेडिटर्स हूम एण्ड द बोरोवर्स हेल्पलेस प्लाइट कोन्फिगरेटेड द रिकरेन्ट थीम इन द नोवेल्स फोर व्हिच ही हेड ए वर्ल्ड हेण्ड एक्सपीरियन्स इन हिज ओउन लाईफ." [35]

जैसा कि ऊपर कहा गया है, आर्थिक-संघर्ष प्रेमचन्द के जीवन में आखिर तक रहा। "गोदान" में होरी के ऋण की जो समस्या है, वह कुछ-कुछ प्रेमचन्द के जीवन की भी समस्या रही है। इस संदर्भ में डा. रामविलास शर्मा ने लिखा है -- "प्रेमचन्द ने जब "गोदान" लिखा था, तब वह खुद भी कर्ज के बोझ से दबे हुए थे। `गोदान' की मूल समस्या ऋण की समस्या है। इस उपन्यास में किसानों के साथ मानो वह अपनी आपबीती कह रहे थे। किसानों के जीवन के अलग-अलग पहलुओं पर वह उपन्यास लिख चुके थे -- `प्रेमाश्रम' में बेदखली और इजाफा लगान पर, `कर्मभूमि' में बढ़ते हुए आर्थिक संकट और किसानों की लगानबन्दी की लड़ाई पर -- लेकिन कर्ज की समस्या पर उन्होंने विस्तार से कोई उपन्यास न लिखा था। `गोदान' लिखकर उन्होंने किसान की उस समस्या पर प्रकाश डाला जो आजकल उसके जीवन को सबसे ज्यादा स्पर्श करती है।" [36]

पिताजी की मृत्यु के उपरांत उनकी आर्थिक-समस्याएं और भी बढ़ गईं, क्योंकि अजायबलाल अपनी नौकरी में प्रतिमास 40 रुपये तक तो पहुंच गए थे। प्रेमचन्दजी की पहली नौकरी सन् 1899 में लगी। मिर्जापुर जिले के चुनार गांव की स्कूल में अध्यापक के रूप में उन्हें प्रथम नौकरी मिली। तनख्वाह थी प्रतिमास -- अठारह रुपये। फिर सन् 1900 में बहराईच में अध्यापक के रूप में ही चले गये। जहाँ पगार बीस रुपये थी। अविधपुर [illegible] [illegible] उनके घर का खर्च जो पहले

चालीस रूपये में चलता था , अब उसे सौ में चलाना पड़ता था । मंहगाई बढ़ ही रही थी । खर्चे भी बढ़ ही रहे थे ।

इन खर्चों के कारण प्रेमचन्दजी को प्राइवेट ट्यूशन्स भी करने पड़ते थे । बहराइच से वे प्रतापगढ़ आ गये । 1902 में वे प्रशिक्षण के लिए इलाहाबाद आ गये । अपना प्रशिक्षण समाप्त करके पुनः प्रतापगढ़ आ गये । प्रशिक्षण कोलेज के प्रिंसिपाल उनसे बहुत ही प्रभावित थे । अतः उन्हें प्रशिक्षण कोलेज से संलग्न मोडेल स्कूल में बतौर हेडमास्टर बुला लिया । परंतु कुछ ही महीनों में उनकी बदली पुनः कानपुर को गई । यह सन् 1905 की बात है । उस समय उनका वेतन पचीस रुपया महीना था ।

सन् 1909 में सब-डिप्टी इंस्पेक्टर आफ स्कूल्स के पद पर उनकी प्रोन्नति हुई । बुंदेलखण्ड के हमीरपुर जिले के महोबा नामक स्थान पर इन्हें×××× वे रहते थे , क्योंकि अपनी नौकरी के सिलसिले में उन्हें निरंतर यात्राएं करनी पड़ती थीं , जिसका असर उनके स्वास्थ्य पर भी पड़ रहा था । 1909 से 1914 तक वे महोबा रहे , परंतु निरंतर यात्राओं के कारण पेचिश के शिकार हो गये । यह शिकायत उन्हें आखिर तक रही । महोबा का अंतिम वर्ष तो वे बहुत ही परेशान रहे । फलतः वे किसी अच्छे स्थान की तलाश में थे और उस संबंध में अधिकारियों से भी पत्र-व्यवहार कर रहे थे । महोबा से सन् 1914 में उनकी बदली तो हुई , परंतु और भी पिछड़े विस्तार में । सन् 1914-18 के दरमियान वे कुल ढाई साल बस्ती में रहे , जहां उनका स्वास्थ्य और भी गिर गया । उन दिनों में उनकी जो आर्थिक स्थिति थी उसका परिचय उनके एक पत्र से मिलता है जो उन्होंने "ज़माना" के संपादक को लिखा था -- " आई केन बी मच ग्रेटफुल इफ यू कुड सेण्ड मी विथाउट मच डिफिकल्टी ए फ्यू फोर रूपी नोट्स एण्ड ए पेर आफ शूज नर्व फोर आर फोर एण्ड हाफ . माय शूज हैव बिन टेकन बाय छोटक एण्ड आई एम विथाउट देम " 35

उन दिनों में प्रेमचन्दजी नवाबराय नाम से लिखकर कोई

पत्रिका निकालने की भी सोच रहे थे , परंतु कुछ तो अपनी आर्थिक असमर्थता और कुछ अपनी नासाज़ तबीयत के कारण उन्हें तब यह विचार छोड़ना पड़ा । जब इन्स्पेक्टर के पद पर उनकी नियुक्ति हुई थी तब उनकी तनख़्वाह तीस से पचास रुपये हो गई थी । उन दिनों समाज में यह पद बड़ा ही प्रतिष्ठित माना जाता था , क्योंकि समूचे संयुक्त प्रांत [अब उत्तर प्रदेश] में तब केवल 81 सब-इंस्पेक्टर्स थे और हजारों शिक्षकों का भविष्य उन पर निर्भर था — " दि पोस्ट केरीड गुड सोशियल स्टेटस एण्ड प्रोफेशनल प्रिवीलेज थाउजेन्ड्स आफ टीचर्स वेर इन हिज हेण्ड्स , हिज रीकमण्डेशन्स एण्ड रिपोर्ट्स कुड मेटर अ ग्रेट डील फोर देर प्रमोशन्स. " 36

प्रेमचन्द के पास यदि उनके नाना गुरसहायलाल की व्यावसायिक बुद्धि होती तो अपने पद और प्रतिष्ठा का लाभ उठाते हुए रुपयों की टकसाल खुल सकती थी । पर प्रेमचन्द प्रेमचन्द थे , गुरसहायलाल नहीं । यहाँ मेरे निर्देशक डा. देसाई की कुछ पंक्तियाँ स्मृति में कौंध जाती हैं —

" तू तू है , मैं मैं हूँ
पर फरक है लाजमी
बस तू अंकों का ,
मैं शब्दों का आदमी । " 37

प्रेमचन्द शब्दों के आदमी थे , अतः सोने की अथवा बेमानी कुर्सी को छोड़कर वे पुनः अपनी स्कूल मास्टरी की नौकरी में आ गये और उस सिलसिले में गोरखपुर भी गये । सन् 1921 में उन्होंने उस सरकारी नौकरी को भी महात्मा गांधी के आह्वान पर लात मार दी । इस प्रसंग का चित्रण शिवरानी देवी ने अपनी पुस्तक " प्रेमचन्द घर में " किया है — " फिर उन दिनों जलियाँवाला बाग का भीषण हत्याकांड हुआ था , उसकी व्यथा सबके दिल में होना स्वाभाविक थी । वह शायद मेरे भी दिल में रही हो । दूसरे दिन आने को उस समय

मुसीबतों को सहने के लिए तैयार कर पाई जो नौकरी छोड़ने पर आनेवाली थीं । दूसरे दिन मैंने उनसे कहा — छोड़ दीजिए नौकरी को । 25 वर्ष की नौकरी को छोड़ते हुए तकलीफ़ तो होती ही थी । मगर नहीं । यह जो मुल्क पर अत्याचार हो रहे थे, उनको देखते तो शायद नहीं के बराबर थी । जब मैंने उनसे कहा कि छोड़ दीजिए नौकरी क्योंकि इन अत्याचारों को तो अब सबको मिलकर मिटाना होगा और यह सरकारी-नीति अब सहनशक्ति के बाहर है । तब आप अपनी स्वाभाविक हँसी हँस-कर बोले —' दूसरों का अन्न करने से पहले अपना अन्न सोच लो । ' मैं बोली —' मैंने सोच लिया है, जब तुम आते हो नहीं हो तो मैं सोचती हूँ कि अब आगे भी मैं जंगल में मंगल कर सकूँगी और मेरा ख्याल है कि ईश्वर भी कुछ अच्छा ही करने वाला है । ' [38]

नौकरी छोड़कर प्रेमचन्द लमही आ गये । फिर कुछ महीनों बाद कानपुर के एक राष्ट्रीय स्कूल में हेडमास्टर के पद पर नियुक्त हुए । सन् 1922 में काशी विद्यापीठ से संलग्नित एक स्कूल में नौकरी की । सन् 1923 में सरस्वती प्रेस की स्थापना के कारण घाटा हुआ, अतः उसे पूरने के लिए "गंगा पुस्तकमाला" में नौकरी करनी पड़ी । सन् 1925 में लखनऊ से पुनः बनारस आ गये । सन् 1927 में "माधुरी" में सह-संपादक हुए । सन् 1930 में "हंस" और 1932 में "जागरण" शुरू किया । फलतः कर्ज के समंदर में डूब गये । इस घाटे को भरने के लिए उन्हें बम्बई "अजंटा सीनेटोन" में काम करना पड़ा । यह सन् 1934 की बात है । सन् 1935 में पुनः बनारस आ गये । सन् 1936 में बीमारी की हालत में आठ अक्तूबर को उनका निधन हो गया ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि बाबू प्रेमचन्दजी के जीवन में आर्थिक संघर्ष हमेशा बना रहा । दयानारायण निगम तथा ताज साहब को लिखे उनके पत्रों में उनकी आर्थिक दुर्दशा के संकेत मिलते हैं ।[39] "हंस" और "जागरण" ने उनकी आर्थिक स्थिति को और भी डाँवाडोल कर दिया । इस घाटे को पूरा करने के लिए अपनी आस्था के विरुद्ध जाकर उन्हें

"अजन्टा सीनेटोन" में काम करना पड़ा । आर्थिक तंगदस्ती के कारण ही वे कभी कोई लंबी यात्रा भी न कर पाते । "प्रेमचंदजी को बड़ी हैरानी हुई थी जब गुप्तजी ने सन् 1933 की अपनी दिल्ली यात्रा के समय उनको बतलाया था कि अपनी जिन्दगी में वह पहली बार ही दिल्ली आये हैं, इक्यावन-बावन साल की उम्र में पहली बार उन्होंने दिल्ली का मुंह देखा ।" [40] और फिर उतनी ही हैरानी जैनेन्द्र को यह जानकर हुई थी कि उस प्रवास के छह सात दिन उनकी जिन्दगी के पहले सात दिन थे (बीमारी के दिनों के अलावा) जब कि उन्होंने कुछ नहीं लिखा ।[41] आर्थिक संकट के निवारणार्थ उन्हें नियमित छः सात घण्टे लिखना पड़ता था । इस अर्थ में वे सचमुच "कलम के मजदूर" थे । "हंस" के कारण भी वे कभी आर्थिक संकट से मुक्त न हो पाये ।

यहाँ एक तथ्य ध्यातव्य है कि प्रेमचन्दजी के जीवन का प्रारंभिक आर्थिक-संघर्ष तो प्राकृतिक या कुदरती है । जिसमें उनका अपना कोई वश नहीं था । उसके कारण उन्हें कुछ भटकना भी पड़ा । स्वास्थ्य भी खराब हुआ । परंतु बाद में जो आर्थिक-संघर्ष उन्हें झेलना पड़ा, वह स्वयं-आमंत्रित सा है । इसका अर्थ यह कतई नहीं कि वे मूर्ख थे । वस्तुतः त्याग, बलिदान और साहित्य की प्रतिबद्धता के कारण ही उन्हें यह संघर्ष झेलना पड़ा । पैसे कमाने के कई मौके उन्होंने न केवल हाथ से जाने दिये, बल्कि खुशी-खुशी उन्हें जाने दिया । सरकारी नौकरी न छोड़ते तब भी उनकी माली हालत अच्छी रहती । केवल द्वारा कमाए पैसों को संगृहीत करते तब भी उनके पास अच्छी-खासी रकम हो जाती । अलवर नरेश के आफर को न ठुकराते या बम्बई टिक जाते तब भी उनकी आर्थिक स्थिति सद्धर हो सकती थी । परंतु वह तो कमाते रहे और लुटाते रहे । "हंस", "जागरण" और "प्रेस" उनके लिए घाटे का ही सौदा था । पर हाँ, प्रेस के कारण बाद में उनके परिवार को काफी फायदा हुआ । इससे प्रकाशित कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, कर्मभूमि, गोदान प्रभृति पुस्तकों से उनके परिवार को पर्याप्त लाभ हुआ । [42]

अपने व्यवसाय के लिए प्रेमचन्दजी को चुनार, बहराईच, प्रतापगढ़, महोबा, बस्ती, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, बम्बई आदि स्थानों पर जो भटकना पड़ा वह भी उनके आर्थिक-संघर्ष का ही एक पहलू है। निरंतर हवामान और जलवायु के बदलाव के कारण उनके स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ा। इन्सपेक्टर की नौकरी के दरमियान तो उन्हें जगह-जगह की यात्राएँ भी करनी पड़ती थीं। इसके कारण वे पेचिश के शिकार हो गये।

शरीर-विषयक या स्वास्थ्य-विषयक संघर्ष भी आर्थिक-संघर्ष का ही एक आयाम है। श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास में एक कथन आता है कि शहर में हर समस्या के आगे एक राह है, जबकि गाँव में हर राह के आगे एक समस्या होती है। इस कथन को थोड़ा परिवर्तित कर दें कि धनी व्यक्ति के लिए हर समस्या का कोई-न-कोई हल होता है, पर निर्धन के लिए तो हर रास्ते के आगे एक अड़चन दीवार खड़ी होती है। यदि प्रेमचन्दजी के पास पैसों की इफ़रात रहती तो उन्हें अपना इलाज कराने में सरलता रहती और दूसरे इलाज के लिए समय भी रहता। कई बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति की आर्थिक विवशताएँ इतनी ज्यादा होती है कि वह अपने इलाज को आगे-ही-आगे ठेलता जाता है। उसे कहीं यह डर भी होता है कि मैं अस्पताल गया और कोई बड़ी बीमारी निकल आयी तो इलाज कैसे कराऊँगा। प्रतापजी ने अपनी पेचिश का इलाज कराने के लिए सेनेटोरियम जाने से जो मना कर दिया था, उसके पीछे बनारस न छोड़ने का दुराग्रह ही कारण नहीं था, बल्कि यह तो लोगों को बताने का एक बहाना था, असली कारण तो आर्थिक ही था।[43]

आखिर के दिनों में प्रेमचन्दजी को विदेश जाने का भी एक सुनहरा मौका मिला था। शिवरानी देवी ने उन्हें जो न जाने दिया उसके पीछे भी उनका खराब स्वास्थ्य कारण था। इस संदर्भ में डा. मनोहर बन्दोपाध्याय ने लिखा है — " ड्यूरिंग धीस टाईम /सिन्स स्टे इन बोम्बे/ प्रेमचन्द गोट एन ऑफर टु गो टु इंग्लैंड बट ही वाज रिफ्यूज्ड टु

राईट फाइव लिटेरियरी वर्क टू फिल्म कंपनी. एन एन्युअल सेलरी आफ रुपिज़ टेन थाउजण्ड वाज़ आफर्ड टु हीम आफ्टर हीज रिटर्न फ्रोम इंग्लैंड व्हीच वुड इनवोल्व्ड अब्राउड ए वी.इ.ए.' आई विल नोट लेट यु गो. सेइड शिवरानी देवी. हेविंग ओबसरव्ड ओल धीस चेन्जेज श्री प्रेम-चन्द वाज नोट फिट इनफ टु अण्डर टेक एनी स्ट्रीन्युअस वर्क. इट वुड इम्पेर हिज हेल्थ फर्दर." 44

वैसे शिवरानीदेवी हमेशा प्रेमचंद के लेखकीय जीवन की ऊंचाई के लिए उन्हें प्रोत्साहन देती रहती थी, पर "हंस" और "जागरण" के कारण प्रेमचन्दजी को जो रात-दिन खटना पड़ा था, उससे बुरी तरह से चिढ़ती भी थीं। एक प्रसंग दृष्टव्य है — "मैं बोली —'तो कौन 'हंस' मोती उगल रहा है।' आप हंसकर बोले —'नादान, 'हंस' मोती उगलता नहीं चुनता है।' मैं बोली —' हाँ चुनता है, जब देखो एक-न-एक बला अपनी जान को पाले रहते हैं। आपको आराम से रहना ही नहीं आता। सूखकर हड्डी रह गए हैं। वही मसला है —' दाना न घास खरहरा दिन रात'। परसों रात भर बुखार चढ़ा रहा, कल दिन-रात पड़े रहे, आज जब बुखार उतरा, तब बस सवेरे से 'हंस' का पर्चा लेकर बैठ गये। और काम ऐसा कि जिसका 'न ओर और न छोर'। अभी इस महीने में मालूम हुआ कि अभी आठ साल के अंदर कोई 20 हजार की किताबें बिकीं, और 'हंस' और 'जागरण' और छापाखाना प्रेस खा गया। अगर इन किताबों की रायल्टी की किसी दूसरी होती, तो कोई 12000/- बिना किसी मेहनत के घर आ गये होते। नहीं, कोई तीन हजार रुपये कागजवालों को घर देने ही पड़े, जिसके लिए आप बम्बई गये हुए थे।" 45

प्रेमचन्दजी के आर्थिक अभाव के पीछे उनका सीधा, सरल, भावुक स्वभाव भी कारणभूत है। कई बार लोग उनको अपने झूठमूठ के दुःख बताकर उनसे रुपये ऐंठ ले जाते थे। ऐसे एक प्रसंग का जिक्र उन्होंने अपनी बीमारी के दिनों में शिवरानीदेवी से किया था — "देखो तुमसे

अपनी एक चोरी का हाल बताऊँ । यह सुन के बाहर निकालोगी किसकी चोरी है ।' मैं बोली — ' कैसी चोरी ? ' तब बोले — ' उस बेचारी युवक को तुम्हारी जान में जो दिया था सो तो दिया ही था । अपनी बीवी के जेवर और कपड़े भी उसने मेरी ही जमानत पर लिये थे । उन रुपयों को तुम्हारी चोरी से मैंने अदा किया ।' मैं बोली — ' आपने कैसे दिया ? ' तब आप बोले — ' तुम्हीं सोचो करता क्या ? मैं तुम्हारी चोरी से कहानियाँ लिखता था , उसी के पैसे उसे दे आता था । तुमसे रुपयों का नाम भी नहीं लेता था । क्या करता , उसका भी कर्जदार रहा होऊँगा । ' ... तारीफ़ और बधाई को कई बार आपके पास आते मैंने देखा था । तभी मुझे मालूम हो गया था । " 46

तात्पर्य यह कि प्रेमचन्दजी चाहते तो उस जमाने में खूब कमा सकते थे , परंतु हिन्दी साहित्य की सेवा तथा त्याग बलिदान जैसे भावों के कारण उनकी जीवन-शैली ही ऐसी बनती चली गई कि वे धन से कभी उबर नहीं सके । इस संदर्भ में निर्मल वर्मा ने "प्रेमचन्द की उपस्थिति" नामक निबंध में संकेतित किया है — " प्रेमचन्द स्वयं चूंकि धन को संवेग की दृष्टि से देखते थे , गरीबी के प्रति उनका रुख दया , घृणा और विरोध जैसी भावुक प्रतिक्रियाओं से बिलकुल अलग था । धन का अभाव अपने में वरदान हो सकता है , अगर वह ऐसी गरीबी को जन्म न दे , जिसमें मनुष्य स्वयं अपने धर्म और दायित्व बोध से वंचित हो जाता है । .... शायद इसका उत्तर हमें जैनेन्द्र के एक संस्मरण से मिलता है , जो उन्होंने प्रेमचन्द की याद में लिखा था । एक जगह वह अपने और प्रेमचन्द के बीच अंतर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं ,' मैं अपने को बुद्धि का दुश्मन मानता हूं , जबकि प्रेमचन्द के संदर्भ में कह सकता हूं कि वह धन के दुश्मन थे ।" 47

बहरहाल , कारण कुछ भी रहे हों । प्रेमचन्द ता जिन्दगी पैसों की तंगी में रहे हैं और उनका यह आर्थिक संघर्ष उनके लेखन में अनेक स्थानों पर प्रतिबिंबित हुआ है जिसका विवेचन आगामी अध्यायों में होगा ।

प्रेमचन्दजी के जीवन में पारिवारिक संघर्ष भी काफी रहा है । जब वे आठ साल के थे , तब उनकी माता की मृत्यु हो गई । अपने नौकरी के झंझट तथा बच्चों की देखभाल के लिए पिता ने दूसरी शादी कर ली । विमाता के कटु व्यवहार के कारण वह अधिकतर घर से बाहर ही रहने लगे । चोरी-चकारी की आदत भी पड़ गई । यह सब कम था कि पिताजी ने सोलह वर्ष की छोटी आयु में उनकी शादी एक ऐसी औरत , हाँ औरत ही , से कर डाली । वह उम्र में भी उनसे काफी बड़ी थी । वह काली , भद्दी , चुलबुल , बेढंगी , अफीम खानेवाली और लचककर चलने वाली थी , क्योंकि उसके दोनों पैर बराबर नहीं थे ।[40] यह विवाह मुंशी अजायबलाल के श्वसुर ने करवाया था । इस बात का उन्हें बड़ा भारी सदमा भी पहुँचा । अपनी पत्नी से भी कहा कि बाबूजी ने हमारे कुल से लड़के की ज़िन्दगी तबाह कर दी ।

प्रेमचन्द का विवाह सन् 1896 में हुआ था । हालांकि उस समय के बच्चों की तरह उन्हें भी अपनी शादी का बड़ा चाव था । शादी के मंडप के लिए बांस भी खुद ही काटने गए थे । परंतु बदसूरत और बदतमीज़ औरत को पाकर वह बहुत ही दुःखी हुए । यह सब कम था कि सत्रह साल की कच्ची उम्र में सन् 1897 में उनके पिता की मृत्यु हो गई ।

विमाता तथा दो सौतेले भाइयों का बोझ भी उन पर आ पड़ा । पढ़ाई छोड़कर नौकरी में जुटना पड़ा । अन्यथा उनका विचार तो लोयर बनने का था — " ही हेड बीन ड्रीमिंग टु डु एम.ए. एण्ड बिकम ए लोयर आफ्टर एक्वायरिंग द लॉ डिग्री . बीइंग थ्रोन [illegible] ही वाज़ कनफ्रन्टेड विथ द बर्डन आफ द फैमिली . [illegible] , द स्टेप मदर [illegible] टु [illegible] टु [illegible] ही हेड नॉट [illegible] . ही [illegible] टु [illegible] द एक्जामिनेशन इन 1897 , [illegible] . [illegible] ही एपियर्ड फार द एक्जामिनेशन [illegible]

डिविजन. द फैमिली प्रॉब्लम्स एण्ड द पावर्टी आफ अर्निंग हिज़ ओनलिविंग जियोपार्डाइज्ड हिज़ स्टडीज़. हिज़ फोर्थ इन द मिशन कालेज वुड नोट बी एक्सेप्टेड फोर फर्दर स्टडीज, एज ही हैड नोट ओबटेन्ड ए फर्स्ट डिविज़न . " 49

दुखमय आर्थिक स्थिति के कारण किसी प्रकार सन् 1898 में मैट्रिक की परीक्षा उन्होंने उत्तीर्ण की । बाद में अनेक स्थानों पर मास्टरी और फिर इन्सपेक्टरी करते रहे । मैट्रिक के 18 वर्षों बाद सन् 1916 में एफ.ए. (इन्टरमीडियट आर्ट्स) तथा 21 वर्षों बाद सन् 1919 में वह बी.ए. उत्तीर्ण कर सके, इससे भी उनकी पारिवारिक कठिनाइयों का पता चल सकता है ।

बहुचर्चित उपन्यास "रंगभूमि" का ताहिरअली कदाचित् प्रेमचन्दजी के दर्द से ही उद्भूत प्रतीत होता है । ताहिरअली के भी विमाता थी । विमाता के बच्चों का बोझ भी ताहिरअली पर ही था । ऊपर से फिर विमाता और पत्नी में रात-दिन कलह चलता रहता था । बिलकुल यही स्थिति प्रेमचन्दजी की भी थी ।

सन् 1904 में प्रेमचन्द की पत्नी ने आत्महत्या का असफल प्रयास किया । उसके बाद वह मैके गई तो कभी नहीं आई । सन् 1909 में समाज एवं परिवार के विरोध के बावजूद उन्होंने शिवरानीदेवी नामक बाल-विधवा से शादी की । लोगों का विरोध दूसरे विवाह के कारण नहीं, प्रत्युत एक विधवा से विवाह के कारण था । परन्तु प्रेमचन्दजी टस से मस नहीं हुए । इस प्रकार एक विधवा से विवाह करके उन्होंने अपने आचार-विचार की एकता को सिद्ध कर दिया । परन्तु शिवरानीदेवी और उनकी विमाता के बीच भी काफी विवादित बातें भी रहती थीं । नित्य के इस पारिवारिक कलह ने प्रेमचन्दजी को बुरी तरह से दुःखी किया है, जिसका चित्रण उनकी कई कहानियों तथा उपन्यासों में कई स्थानों पर हुआ है ।

प्रेमचन्दजी के परिवार में विधवाओं की भी समस्या रही है । उनके पिता मुंशी अजायबलाल के बड़े भाई कौशलप्रसाद की मृत्यु तीस साल की युवावस्था में ही हो गई थी । उनकी विधवा कुछ दिन लमही में रहीं, बाद में बच्चों को लेकर गुनार जाकर रहने लगीं । कौशलप्रसाद का लड़का मोतीलाल भी तीस साल की उम्र में ही मर गया । वह भी अपने पीछे विधवा पत्नी और चार बच्चों को छोड़ गया था । अजायबलाल के छोटे भाई उदितनारायणलाल ने डाकखाने में गबन किया, जिसके कारण उन्हें सात साल की सज़ा हो गई । जब लौटे तो शर्म के मारे मुँह न दिखा सके और कहीं भाग गये । बाद में उनका क्या हुआ कुछ पता न चला । अतः उनकी पत्नी भी एक प्रकार से तो विधवा जैसी ही हो गई । उनकी दो लड़कियों में से एक की शादी होनी थी । ये सारे उत्तरदायित्व भी अजायबलाल के सिर पर थे ।[50]

इस प्रकार मृत्यु का साया भी उनके परिवार पर मँडराता रहा । ऊपर जो मौतें बताई गई हैं, इनके अतिरिक्त प्रेमचन्दजी के जीवनकाल में भी परिवार में मौत का सिलसिला जारी रहा । आठ साल की अवस्था में यानी सन् 1888 में उनकी माता आनंदीदेवी का देहांत हो गया । इसके नौ वर्ष बाद सन् 1897 में उनके पिता अजायबलाल की मृत्यु हो गई । सन् 1916 में पुत्र (श्रीपतराय) का जन्म हुआ । उसके बाद सन् 1919 में दूसरे पुत्र मन्नू का जन्म हुआ, परंतु दूसरे ही वर्ष सन् 1920 में उसकी मृत्यु हो गई ।[51]

सन् 1931 में बेटी कमला की शादी एक अच्छे सम्भ्रान्त परिवार में हो गई । उसके पीछे भी शिवरानीदेवी और मुंशीजी के बड़े भाई के बलदेवलाल ही लगे रहे, अन्यथा समाज के रस्मो-रिवाजों को निभाना प्रेमचन्दजी के बस की बात नहीं है । एक अच्छी बात इसमें यह हुई कि प्रेमचन्दजी को बेटी की शादी में दहेज नहीं देना पड़ा । उनके दामाद ने दशरथलाल (जिनकी इस संबंध को कराने में मुख्य भूमिका रही है) को साफ़-साफ़ लिख दिया था — " शादी मुझे मंज़ूर है । इसका ख्याल रहे

कि जिस घर में मेरी शादी हो वह घर खिलाफ़ियों न किया जाय । शादी-ब्याह एक दिन का रिश्ता नहीं, हमारा-उनका यह तीन पुश्तों का रिश्ता होगा । इसलिए आप उनको खिलाफ़ियों न कीजिएगा । " 52

समाज के फ़र्ज़ी रस्मो-रिवाज को लेकर भी उनकी अपने परिवार से ठनती रहती थी । बेटी कमला की ही शादी में द्वारचार, द्वारपूजा तथा कन्यादान आदि को लेकर परिवार में खूब वाद-विवाद मचा । अधिकांश विधियाँ तो बालविवाह से ही सम्बद्ध थीं । इस प्रसंग का विवरण अमृतराय ने अपनी पुस्तक "कलम का सिपाही" में इस प्रकार दिया है — " द्वारचार के बाद जब बारात जनवासे गयी तो उनकी पत्नी ने कहा — द्वारपूजा आपको करनी चाहिए थी । उन्होंने जवाब दिया — मुझसे ये रस्में न होंगी । पत्नी ने कहा — कन्यादान तो आखिर आपको ही करना होगा ? उन्होंने कहा। कन्यादान कैसा ? बेजान चीज़ दान में दी जाती है । जानदार चीज़ों में तो गाय ही दी जा सकती है । फिर लड़की का दान कैसा ? यह सब मुझे पसंद नहीं । आखिर जब रात को शादी हुई और कन्यादान का अवसर आया तो मुंशीजी उठकर अपनी जगह से नहीं आये । बहुत समझाया गया मगर न माने । आखिरकार डाक्टर भट्ट जाकर उनको ज़बर्दस्ती गोद में उठा लाये और मंडप में बैठा दिया । तो भी कन्यादान किया लड़की की माँ ने ही, मुंशीजी मूर्तिवत् बैठे रहे । " 53

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रेमचन्दजी के जीवन में अनेक आर्थिक एवं पारिवारिक संघर्ष आये हैं और उनका असर उनके साहित्य में भी देखा जा सकता है ।

(ग) सामाजिक-राजनीतिक एवं वैचारिक संघर्ष

सामाजिक एवं राजनीतिक संघर्ष अन्ततोगत्वा तो वैचारिक संघर्ष का ही एक अंग है । यदि व्यक्ति के मन में विचार न होंगे तो किसी प्रकार का संघर्ष जन्म ही न लेगा । अतः यहाँ उक्त दोनों प्रकार

वैवाहिक-संघर्ष के अन्तर्गत आ सकते हैं ।

प्रेमचन्दजी का काल [1880-1936] अनेक सामाजिक तथा राजनीतिक उथल-पुथलों से संयुक्त है । आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, थियोसोफी, अंग्रेजी-शिक्षा का प्रसार, मिशनरियों के धार्मिक-प्रचार की प्रतिक्रिया प्रभृति कारणों से भारतीय समाज एक करवट ले रहा था । प्रेमचन्द प्रगतिकामी शक्तियों के प्रतीक होने के नाते हमारे समाज में जो प्रगतिविरोधी रूढ़ियाँ मिलती हैं उनके प्रत्यक्ष प्रखर विरोधी थे । फलतः वे दहेज-प्रथा के जबर्दस्त विरोधी थे । दहेज के नाम पर जो लूट चलती है, वह उन्हें बर्दाश्त नहीं था । दहेज के कारण ही दूसरी कई समस्याएं पैदा होती हैं । गरीब माँ-बाप दहेज न दे पाने के कारण अपनी लाड़ली बेटी का विवाह दुहाजू-तिहाजू और वयोवृद्ध व्यक्ति से कर देते हैं । यहाँ से शुरू होती है अनमेल-विवाह की एक नयी समस्या । "सेवासदन" की सुमन और "निर्मला" की निर्मला इस रूढ़ि के ही शिकार हैं । कई बार अच्छे-खाते सम्पन्न घरों में भी पिता की मृत्यु हो जाने पर भाइयों की दयानत में खयानत आ जाती है । बहन उन्हें बोझरूप लगती है और वे उसे शादी में डालने के लिए अपात्र के गले मढ़ देते हैं । प्रेमचन्द की कहानी [illegible] "बेटोंवाली विधवा" में इसी बात का संकेत मिलता है । बिहार में तो कई गरीब माँ-बाप अपनी बेटी का ब्याह कुलीन ब्राह्मण से कर देते हैं । यह कुलीन ब्राह्मण चाहे जितने विवाह कर सकता है, क्योंकि पत्नी और बच्चों के पालन-पोषण का भार तो उसे वहन नहीं करना पड़ता । वस्तुतः लड़की अपने माँ-बाप के यहाँ ही रहती है । दामाद महाराज तो कभी-कभार आने की कृपादृष्टि करते रहते हैं । पर असल यह कुंवारेपन के दाग को उतारने की ही एक तरकीब है । इसके कारण लैंगिक भ्रष्टाचार भी पनपता है । गाँव के लोग अपनी हवस मिटाने के लिए ऐसी लड़कियों का प्रयोग करते हैं । डॉ. भगवतीशरण मिश्र के उपन्यास "नदी नहीं मुड़ती" में इस प्रथा के परिणामों की अच्छी चर्चा हुई है ।[54] ये कुलीन ब्राह्मण कई बार तो इतने विवाह कर लेते थे कि उन्हें यह भी नहीं मालूम पड़ता था कि उनकी ससुराल कहाँ-कहाँ है ।

एक प्रकार से समाज में यहाँ-वहाँ विचरण करते थे साँड़ भी थे ।

प्रेमचन्दजी विधवा-विवाह के भी बड़े हिमायती थे । उन्हें यह अन्याय सरासर खलता था कि पुरुष तो स्त्री की मृत्यु के बाद फौरन दूसरा ब्याह रचा ले, कई-कई बच्चे और अवस्था होने के बावजूद नये-नवेले दूल्हे बनकर किसी मुग्धा की ज़िन्दगी में ज़हर घोल दे, और स्त्री बेचारी बाल-विधवा हो तो भी ज़िन्दगीभर वैधव्य के अभिशाप को ढोती फिरे । फिर इस साधना और तप का फल क्या ? लोग उसकी सूरत से नफ़रत करें । उसके दर्शनों को अपशकुनी मानें, गांव के लोग उसे अपनी हवस का साधन बनावें । कई बार घर के ही देवर या जेठ उस पर हाथ साफ कर लें । नागार्जुन के उपन्यास "रतिनाथ की चाची" में ऐसा ही होता है । उनके एक दूसरे उपन्यास "उग्रतारा" में गांव के बड़े-बूढ़ों का विधवा-विवाह के लिए विरोध बताया है । उनके मन में "विकार" के आगे बातों से छलक जाने का ही उन्हें अंदेशा है ।[65] सवर्ण-समाज में अब कहीं-कहीं विधवाओं के विवाह होने लगे हैं, परंतु अभी भी बहुत से रूढ़िवादी लोग तो उसे बुरा ही मानते हैं । तब प्रेमचन्द के ज़माने में विधवा-विवाह का कितना विरोध होता होगा, उसकी तो कल्पना करना भी मुश्किल है ।

उन दिनों प्रेमचन्द के मन में विधवाओं के लिए जो मानसिक संघर्ष चल रहा था, उसका कुछ संकेत अमृतराय के "कलम का सिपाही" में मिलता है — "उसका अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है, उसकी अपनी किसी इच्छा को समाज मान्यता देने के लिए तैयार नहीं है, इसलिए तो कन्या और गौ का स्थान एक है — चाहे जिसके साथ बाँध दो । पाँच साल की लड़की का ब्याह पचास साल के बुड्ढे के साथ हो सकता है । लड़की ने पति का मुँह भी न देखा हो तो क्या, ब्याह का मतलब भी वह न समझती हो तो क्या, पति के मरने पर / या उसके द्वारा छोड़ दिए जाने पर / अब वह एक बार विधवा हो गयी तो हो गयी, उसका कोई उद्धार नहीं है । अब फिर विधवा के रूप में सारी ज़िन्दगी रहना है यानी अपनी सारी प्राकृतिक इच्छाओं को मारकर

मुर्दे की तरह ज़िन्दा रहना है । ... ऐसा सब अप्राकृतिक विधान होता तो छिपे-छिपे समाज में व्यापार सब पाप पनपता कैसे । कितनी ही विधवाएँ और समाज की ताड़ना से दुखी 'रमणी' कोठों पर पहुँच जाती हैं । ... उस दुखियारी स्त्री की दूसरी बहनें भी उस पर चौकीदारी करती हैं और ग़रीब औरत अगर कहीं दुर्भाग्य से अपनी लीक से ज़रा भी डिग गयी तो फिर उसकी खैरियत नहीं ।" [54]

समाज की इन स्थितियों से प्रेमचन्दजी भीतर तक हिल जाते थे । अतः वे कुछ ऐसा लिखना चाहते थे जिससे समाज में कुछ तो बदलाव आवे । उनकी इन चिन्ताओं को उनके पुत्र अमृतराय ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है — "ठीक है उनमें (राजा-रानी, तिलस्मी और ऐयारी के किस्से) दिलबहलाव होता है, मगर सवाल यह है कि हम आखिर कब तक इसीतरह दिलबहलाव करते रहेंगे । इस तरह तो इतिहास के पन्नों से हमारा नाम ही मिट जायगा । ज़रा अपने समाज की हालत भी तो देखो — कैसे मुर्दे की नींद सो रहा है । उसका दिल बहलाने की ज़रूरत है कि झकझोरकर उसको जगाने की ? ... अगर कुछ लिखना ही है तो ऐसा लिखो जिससे यह मौत और गफ़लत की नींद कुछ टूटे, यह मुर्दनी कुछ दूर हो । कितनी बुरी हालत है हमारे हिन्दू समाज की । आदमी को आदमी नहीं समझा जाता । एक आदमी के छू जाने से दूसरे आदमी की जात चली जाती है । यह क्या ज़िन्दा कौमों के लक्षण हैं ?" [57] प्रेमचन्दजी पर डा॰ इकबाल का काफी प्रभाव है । उनका एक शेर यहाँ स्मृति में कौंध जाता है —

"मिटा नहीं है ज़माने में ज़िन्दा कौमों का
कि सुबह-शाम बदलती हैं उनकी तकदीरें ।"

विधवाओं के विषय में प्रेमचन्दजी का यह जो चिंतन है उसके मूल में उनके घर-परिवार की स्थिति भी कारणभूत है । उनके अपने घर-परिवार में ही कितनी विधवाएँ थीं — ताई, चाची, भाभी, विमाता ।

अनमेल ब्याह के संदर्भ में भी उनका समाज के प्रति आक्रोश जग-जाहिर है । अलहराय ने अपने इस आक्रोश को वाणी दी है जिसमें उन्होंने खुद अपने ही पिता के ऐसे कार्य की भर्त्सना की है — " आखिर क्या पड़ी थी मुंशी अलायाराम को जो बेटी-बेटे के रहते हुए बुढ़ौती में जाकर दुबारा ब्याह किया ? ऐसा भी आपकी आत्मा प्यासी थी , रोज गिलसिया भर दारू न चढ़ाते तो खाना-फिरना हराम हो जाता , लेकिन शादी करने से बाज न आते । ताज्जुब है कि अजीजों में किसीने समझाया भी नहीं कि मियां यह क्या करते हो , क्यों अपनी जान को यह फाँसी मोल लेते हो । भगवान के दिये तुम्हारे तो बच्चे हैं , अब तुम्हें और क्या चाहिए ? राम का नाम लो और इस झगड़े से बाज आओ , इसमें सिवाय ख्वारी के और कुछ तुम्हें हाथ न लगेगा । न किसीने समझाया न अज़खुद आपको अक्ल आयी । अभी सोचो भी , ऐसी भी क्या हवस कि उस पर इंसान काबू न रख सके , उम्र भी तो आपकी मुलाहिजा फरमाइए , पचास साल आपका सिन है और आप चले हैं फिर ब्याह रचाने । [illegible] । [illegible] कोई पूछे उनसे , आपसे तो [illegible] और आप जाकर एक नयी बीवी ब्याह लाये , [illegible] नहीं बड़ी की , लेकिन अगर किसी औरत ने ऐसी ही उम्र में पहुँचकर दुबारा शादी की होती तो आपका समाज उसे जिन्दा रहने देता ? इस उम्र की बात तो जाने दीजिए , आप तो भरी जवानी में बेवा लड़की की शादी नहीं करने देते । उसे संयम का पाठ पढ़ाते हैं । सारा संयम , सारा इन्द्रिय-निग्रह उसीके लिए है , आपके लिए कुछ नहीं है ? भूख बस आपको लगती है , औरत को भूख नहीं लगती ? आपसे तो बुढ़ौती में दो बरस नहीं रहा गया और जवान औरत सारी जिन्दगी अपनी पहाड़ जैसी जवानी लिए बैठी रहे । " [58]

[illegible] का जो भाव पर [illegible] होता था , उसका भी मनोवैज्ञानिक कारण [illegible] अनमेल ब्याह में मिले ।

जो प्रौढ़ या वयोवृद्ध व्यक्ति दूसरी शादी करते थे वे अपनी किसी समवयस्का या प्रौढ़ा से तो करते नहीं थे, वे तो किसी भोली-भाली कमसिन लड़की से विवाह करते थे। ऐसे में उनकी अतृप्त काम-वासनायें ही कर्कशता का रूप धारण करती होंगी। माँ-बाप से लड़ नहीं सकती, समाज से लड़ नहीं सकती, गाज गिरती है बच्चों पर। "निर्मला" उपन्यास में मंसारामवाली घटना के बाद निर्मला के स्वभाव में जो परिवर्तन आया है, उसके मनोवैज्ञानिक कारणों की पड़ताल जरूरी है। और पूरा सोचें तो कैकेयी की कर्कशता के कारण भी आपको मिल जायेंगे। यहाँ इधर की एक कविता को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकती —

"हे मीत ,"[59]
मीत , [illegible]
अन्याय यातनाओं की मारामारी कहाँ से सीखिया ,
पर सुनो । एक प्रार्थना है हमारी
जीवनपर्यन्त नये कमरों से कतराती जाओ
और बसाना तो उन बूढ़े कमरों से
निकलेंगी न आगे फिर कैकेयियाँ तो
भविष्यगामी कैकेयियों को
तरसाया है सावन में । "60

अपने पिताजी के पाप का प्रायश्चित शायद प्रेमचन्दजी ने शिवरानीदेवी नामक बाल-विधवा से विवाह करके किया। उस समय उनकी बिरादरी वालों ने भी उनके इस शादी का विरोध किया था। अतः प्रेमचन्दजी किसीकी शादी में भी नहीं ले गये थे। इस संदर्भ में शिवरानीजी लिखती हैं — "मेरी शादी में आपकी चाची (प्रेमचन्दजी की विमाता) वगैरह किसीकी राय नहीं थी। मगर यह आपकी दिलेरी थी। आप समाज का बन्धन तोड़ना चाहते थे। यहाँ तक कि आपने अपने घरवालों से भी खबर नहीं ली।" 61

स्त्रियों के प्रति प्रेमचन्दजी के विचार उस समय के समाज के खिलाफ ही पड़ते थे। पुरुष की मृत्यु के बाद हिन्दू-परिवार में स्त्री की जो स्थिति होती है, उससे प्रेमचन्दजी अधिक व्यथित रहते थे। अतः

जब शारदा बिल की बात आयी तब "जागरण" में "एक लेख द्वारा हरबिलास शारदा के समानाधिकार के प्रस्ताव पर बधाई दी थी और लिखा था — ' मैं आपको दिल से बधाई देता हूं । स्त्रियां आपकी सदैव कृतज्ञ रहेंगी । क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर जिस संपत्ति को जोड़ते हैं, पति के मर जाने के बाद उन्हीं के गोद के बच्चे उसे छीन लेते हैं । यह प्रस्ताव जिस दिन पास होगा, करोड़ों माताएं आपको हृदय से आशीर्वाद देंगी और आपकी कीर्ति अमर रहेगी । उन्हीं के साथ मैं भी आपका कृतज्ञ हूं । क्या हिन्दू-लॉ में स्त्रियां बेकार की चीज मानी गई हैं कि जो कूड़ा-करकट की तरह उन्हें निकालकर बाहर किया जाता है ? भगवान जाने यह कानून क्यों और किसके लिए बना था । मुझे तो आशा है, कोई भी विचारवान् व्यक्ति इस प्रस्ताव पर आपत्ति न प्रकट करेगा ।'[62]

यह हमारा अनुभव रहा है कि बहुत-से कट्टर गांधीवादी भी दो मामलों में झिझकते हैं — अस्पृश्यता निवारण और हिन्दू-मुस्लिम एकता । समाज में आज भी इन दो विषयों को लेकर कुछ लोगों में भयंकर कट्टरता है, तो प्रेमचन्द के समय में क्या स्थिति रही होगी इसकी तो कल्पना भी नहीं कर सकते । प्रेमचन्दजी जात-पांत और छुआछूत को नहीं मानते थे, यह तो पहले भी बताया जा चुका है, जहां वे कहते हैं कि " कितनी बुरी हालत है हमारे हिन्दू समाज की । आदमी को आदमी नहीं समझा जाता । एक आदमी के छूने से दूसरे आदमी की जात चली जाती है । " [63]

जातिवाद और ऊंच-नीच का जहर फैलाने के कारण उनके मन में उन तथाकथित पंडों और पुजारियों के लिए नफरत और हिकारत के भाव थे — " यह सब इन्हीं बड़े-बड़े तिलकधारी ब्राह्मणों की, पुजारियों, महंतों, मठाधीशों की कारस्तानी है । कहने को चतुर्वेदी हैं, त्रिवेदी हैं, यह हैं, वह हैं, लेकिन हैं निरे लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर, एक वेद की भी शक्ल जो उन्होंने देखी हो, बस अपने तर माल से काम, हलुआ-पूरी उड़ाये जाओ, चैन की बंसी बजाये जाओ, भंग-बूटी छानो, जितनी मन चाहे शराब कबाबें उड़ाओ, भोले-भाले यजमानों को लेकर

विहार करो, मंदिर के भीतर रंडी-पतुरिया नचाओ — इससे बढ़ी अधिक भक्ति, धर्म, उपासना और क्या है। पतुरिया नचाने से भगवान भ्रष्ट नहीं होते, चमार-पासी उनका दर्शन कर ले तो भगवान भ्रष्ट हो जाते हैं। वैसे कहने को तो पतितपावन हैं। महंतजी की तिजोरी में बंद।"64

उसी प्रकार हिन्दू-मुस्लिम एकता को लेकर प्रेमचन्दजी हिन्दू समाज से टक्कर ले रहे थे। अपने एक भाषण में प्रेमचन्दजी कहते हैं — "साहित्य धर्म को फिर्काबंदी की हद तक गिरा हुआ नहीं देख सकता। वह समाज को संप्रदायों के रूप में नहीं, मानवता के रूप में देखता है। किसी धर्म की महानता और फजीलत इसमें है कि वह इन्सान को इन्सान का कितना हमदर्द बनाता है, उसमें मानवता (इन्सानियत) का कितना ऊंचा आदर्श है, और उस आदर्श पर वहां कितना अमल होता है। अगर हमारा धर्म हमें यह सिखाता है कि इन्सानियत और हमदर्दी और भाई-चारा सबकुछ अपने ही धर्मवालों के लिए है, और उस दायरे से बाहर जितने लोग हैं, सभी गैर हैं, और उन्हें जिन्दा रहने का कोई हक नहीं, तो मैं उस धर्म से अलग होकर विधर्मी होना ज्यादा पसंद करूंगा।" 65

प्रेमचन्दजी का विश्वास था कि हिन्दू और मुसलमान जितना अधिक साहित्य और कला के माध्यम से एक-दूसरे के करीब आ सकते हैं उतना किसी और साधन से नहीं। उसी भाषण में उन्होंने कहा है — "साहित्य बदगुमानियों को मिटानेवाली चीज है। अगर आज हम हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचित हों, मुमकिन है, हम अपने को एक दूसरे से कहीं ज्यादा निकट पायें। साहित्य में हम हिन्दू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ~~बल्कि मनुष्य हैं~~ ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य हैं, और वह मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती है। .... जिस हिन्दू ने कर्बला की मारके की तारीख पढ़ी है, यह असंभव है कि उसे मुसलमानों से सहानुभूति न हो। उसी तरह जिस मुसलमान ने रामायण पढ़ी है, उसके दिल में हिन्दू मात्र से हमदर्दी पैदा हो जाना यकीनी है। कम से कम उत्तरी हिन्दुस्तान में

हरेक शिक्षित हिन्दू-मुसलमान को अपनी तालीम अधूरी समझनी चाहिए, अगर वह मुसलमान है तो हिन्दुओं के और हिन्दू है तो मुसलमानों के साहित्य से अपरिचित है। हम दोनों ही के लिए दोनों लिपियों का और दोनों भाषाओं का ज्ञान लाजमी है। और जब हम जिन्दगी के पन्द्रह साल अंग्रेजी हासिल करने में कुरबान करते हैं, तो क्या महीने-दो-महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने में नहीं लगा सकते, जिस पर हमारी कौमी तरक्की ही नहीं, कौमी जिन्दगी का दारमदार है ? " 66

प्रेमचन्दजी के ये विचार आज की वर्तमान परिस्थिति पर भी कितने ताज़े और प्रासंगिक लगते हैं कि निम्नलिखित पंक्ति में कहा जाता है --

> " क्यों लड़ते हो धर्म के विविध रूपों को लिए सबको प्यार
> वो ही हिन्दू, वो ही मुसलमान, वो ही तुम्हारे राम हैं " 67

विश्व के महान साहित्यकारों की भांति प्रेमचन्दजी में राजनीतिक जागरूकता मिलती है। "नो अदर आफ रीअलिज्म कुड एफोर्ड टु इग्नोर द पोलिटिकल कोन्सीयसनेस हिच हेड बीगन टु सरफेस ओल ओवर द कन्ट्री." 68 इसी राजनीतिक जागरूकता के कारण ही प्रेमचन्दजी को राजनीतिक संघर्षों से गुजरना पड़ा। 'सोज़ेवतन' का जब्त होना, अंग्रेज-सरकार का कोपभाजन होना, उर्दू से हिन्दी में आना, नवाबराय से प्रेमचन्द होना, कई-कई बार 'हंस' के लिए जमानत भरना, अंग्रेजों द्वारा प्रस्तावित रायबहादुर के खिताब को ठुकरा देना, अलवर-नरेश के प्रस्ताव को ठुकराना, स्वयं शिवरानीदेवी का गांधीजी के आह्वान पर जेल जाना इत्यादि अनेक ऐसी घटनाएं हैं जिनसे प्रेमचन्दजी ने जो राजनीतिक संघर्ष किया था वह प्रतिफलित होता है। सुख-सुविधा, ऊंचा स्टेटस, अच्छी आमदनी वाली नौकरी को भी लात मार दिया उनके राजनीतिक-संघर्ष का ही परिणाम है। प्रेमचन्दजी हिन्दी के प्रथम लेखक हैं जिन्होंने अपने समय के राजनीतिक-संघर्ष को अपने अनेक उपन्यासों तथा कहानियों में चित्रित किया है। निःसंदेहतः कहा जा

सकता है कि सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक आदि सभी प्रकार के संघर्ष ने प्रेमचन्द-साहित्य की बुनियाद को पक्का बनाया है ।

[ग] शैक्षिक एवं साहित्यिक संघर्ष

<u>शैक्षिक संघर्ष</u> :

शिक्षा-प्राप्ति के लिए भी प्रेमचन्दजी को खूब संघर्ष करना पड़ा । प्राथमिक शिक्षा के समय तक वे पढ़ने को लेकर अधिक गंभीर नहीं थे । उस जमाने में कायस्थ-परिवारों में पढ़ाई का जो चलन था — फारसी का — उसके तहत उनकी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ । माता की मृत्यु हो गई थी । अधिकांश समय घर से बाहर गुजरता था । पढ़ाई में ध्यान कम और किस्से-कहानियों तथा खेलने-कूदने में ध्यान अधिक रहता था । अंग्रेजी , फारसी तथा इतिहास वगैरह में तो उन्हें मज़ा आता था ; परन्तु गणित उनके लिए गौरीशंकर की चोटी के समान था । बरसों बाद ट्रेनिंग-कालेज से प्रशिक्षित शिक्षक के रूप में बाहर आये तब भी उनके प्रमाणपत्र पर साफ़ लिखा था — "नोट क्वालीफाइड टु टीच मैथेमैटिक्स"।[49]

यही गणित कालेज-शिक्षा में भी एक अनिवार्य विषय था । कालेज प्रवेश में भी उसके कारण दिक्कत हुई । जब हिन्दू कालेज , बनारस, में प्रवेश की बात आई तब उसके प्रिंसिपल मि. रिचर्डसन ने उनके कार्ड पर लिख दिया —इनकी परीक्षा ली जाये । "यह नई समस्या उपस्थित हुई । मेरा दिल बैठ गया । अंग्रेजी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी और बीजगणित और रेखागणित से तो मेरी रूह काँपती थी । जो कुछ याद था वह भी भूल-भाल गया था , लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था ? भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फ़ार्म दिखाया । प्रोफेसर साहब बंगाली थे । अंग्रेजी पढ़ा रहे थे । वाशिंगटन इरविंग का "रिप वान विंकल " था । मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया और दो-ही-चार मिनट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं ।

घण्टा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किये और मेरे फार्म पर "संतोषजनक" लिख दिया। "70

"दूसरा घण्टा बीजगणित का था। इसके प्रोफेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फार्म दिखाया। नयी संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहाँ भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले में जो आया वह भरती हो गया। शुरू में साग-पात सभी रुचिकर होता गया। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे। इन प्रोफेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फार्म पर गणित के खाने में 'असंतोषजनक' लिख दिया।" 71

प्रेमचन्दजी निराश होकर घर लौट आये। लेकिन आगे पढ़ने की लालसा जोरों पर थी, अतः किसी तरह गणित पर काबू पाने की धुन सवार हो गई। इसके लिए शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़के को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपये वेतन में से दो में अपनी गुजर करके तीन रुपये घर भेजने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कोठरी में रहने की जगह मिल गई। एक टाट का टुकड़ा बिछाकर लैम्प के प्रकाश में पढ़ने लगे। पर गणित में अरुचि के कारण थोड़े दिनों में ही यह उत्साह ठण्डा पड़ गया। एक वक्त खिचड़ी पका लेते। खा-धोकर लाइब्रेरी चले जाते। गणित तो बहाना था। दिनभर साहित्य की किताबें पढ़ते रहते। पंडित रतननाथ सरशार का "फसाना-ए-आजाद" इन्हीं दिनों पढ़ा। "चन्द्रकान्ता संतति" भी पढ़ी। बंकिमबाबू के उर्दू अनुवाद जितने मिले सब पढ़ डाले। इस प्रकार उनके साहित्यिक-जीवन की नींव पड़ने लगी थी।

पांच रुपयों में क्या हो जाता, अतः कर्ज भी करने लगे। आखिरकार तंगदस्ती से आजिज आते हुए एक दिन वह मौका आ गया कि "चक्रवर्ती गणित" की कुंजी बेचने एक बुकसेलर के यहाँ जा पहुँचे, जहाँ उनकी मुलाकात एक सज्जन से हुई जिन्होंने उन्हें [illegible] अध्यापकी

में चुनार स्कूल में अध्यापक की नौकरी दिला दी । फिर तो कोल्हू के बैल की भांति जुए में ऐसे बंधे कि जाकर सन् 1916 में एफ.ए. किया और सन् ~~1920~~ 1919 में उन्तालीस वर्ष की आयु में बी.ए. पास किया ।

मैट्रिक की परीक्षा भी उन्होंने किस हालात में दी उसका उल्लेख उनके जीवनीकारों ने किया भी है । सन् 1897 में पिता की मृत्यु हो गई । उसी वर्ष उनको मैट्रिक की परीक्षा देनी थी, पर नहीं दे पाये । ऊपर से शादी और बीवी का बवाल और बढ़ा कर गए थे । उनकी पत्नी जबान की मीठी न थी । रात-दिन सास-बहू में खटपट मची रहती थी । पत्नी हर वक्त अपनी किस्मत को रोती रहती । चाची (सौतेली माँ) दिन-रात बहू की शिकायत की रामायण लेकर बैठी रहती । प्रेमचन्दजी की स्थिति दो पाटों के बीच वाली थी । सुबह पैदल बनारस जाकर दिनभर पढ़ना और शाम को खाक छानते हुए गाँव वापस आना और फिर पर इस रोज की झक-झक का सामना ।[72]

उन दिनों की प्रेमचन्दजी की जो दिक्कतें थीं उसका वर्णन उनके एक जीवनीकार मदनगोपाल ने इस प्रकार किया है — "क्वीन्स कालेज के हेडमास्टर ने फ़ीस मुआफ़ कर दी । मगर महंगाई का ज़माना था । कुनबे का पेट तो पालना था ही । इसका एक ही तरीका था । प्राइवेट ट्यूशन की जाये । बांसफाटक पर एक लड़के को पढ़ाना शुरू किया । घर से आठ बजे निकलते, स्कूल में पढ़ते और वहां से तीन बजे छुट्टी मिलते ही बांस-फाटक जाते । लड़के को पढ़ाकर छः बजे ट्यूशन ख़त्म कर मड़ौली वापस लौटते । रात के आठ बजे घर पहुंचते । [illegible] कुप्पी के सामने बैठकर पढ़ते । दिनभर की थकावट होती । पता नहीं, कब नींद आ जाती ।"[73]

ऐसी हालत में जैसे-तैसे मैट्रिक पास किया, पर सेकंड डिवीजन न आने से मुआफ़ी चली गई । क्वीन्स कालेज में दाखिला भी नहीं मिला । इस प्रकार एम.ए. करके वकालत करने के सपनों पर तुषारापात हो गया । बाद में हिन्दू कालेज में प्रवेश पाने के प्रयत्नों की चर्चा तो पहले कर ही चुके हैं । पर एक बात है, यदि प्रेमचन्द पढ़-लिखकर वकील बन जाते तो क्या

हिन्दी साहित्य को इतना बड़ा लेखक मिलता ?

साहित्यिक-संघर्ष :

साहित्य भूमि में स्थापित होने का, स्थापित होकर कुछ कर गुजरने का संघर्ष तो और भी कड़ा होता है । यहाँ मनुष्य के परिश्रम और तितिक्षा की परीक्षा होती है, क्योंकि यहाँ फटाफट वैसा कुछ नहीं होता । बरसों की, कई बार जन्मों की साधना चलती है ; तब जाकर कोई बड़े पैमाने का लेखक या कवि पैदा होता है । कहा गया है :

"मानुष है दुर्लभ यहाँ, उसमें दुर्लभ ज्ञान ।
उसमें भी दुर्लभ कवि, जिसमें प्रतिभा मान ।।" 74

यहाँ "कवि" शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है । इसके अंतर्गत सभी साहित्यकार आ जाते हैं । गुजराती के साहित्यकार उमेश पाठक ने एक बार अपने व्याख्यान में बताया था कि अनेक जन्मों में कवि-कर्म करते हुए कोई साधक कालिदास, शेक्सपीयर या कबीर-तुलसी की कोटि तक पहुँचता है । गरज यह कि यह कोई "शोर्ट-कट" रास्ता नहीं है । यहाँ तो कई बार इधर "उमर गुजर जाती है, रास्ता बनाने में ।"

लोग प्रेमचन्द की सफलता के बारे में बात करते हैं, परंतु यहाँ तक पहुँचने के लिए उन्होंने जो परिश्रम किया, साधना की, कष्टोपभोग की, संसार के अनेक आकर्षणों से स्वयं को बचाकर रखा, वह बहुत कम लोगों को नज़र आता है । सौतेली माँ के त्रास के कारण वह ज्यादातर घर से बाहर रहते थे । परंतु बाहर रहकर वे भटकगामी भी बन सकते थे । इस स्नेहाभाव की स्थिति में प्रेमचन्द एक [illegible] हो गये । किशोरावस्था में ही उन्होंने बहुत सारा चाट डाला था । बुद्धिलाल नामक एक बुकसेलर था । उसकी दुकान की कुंजियाँ वे लड़कों में बेचते और बदले में उसकी दुकान से उपन्यास और कहानियों की किताबें ले जाकर पढ़ते । उन दिनों की स्थिति का वर्णन अमृतराय ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है — " और इस तरह फिर वह आवारागर्दी [illegible] गयीं, [illegible] और महाभारत की जगह तिलिस्म और ऐयारी की मोटी-मोटी किताबों ने ले लीं, ऐसी कि पूरी

"एनसायक्लोपीडिया" समझ लीजिए । एक आदमी तो अपनी सारी उम्र के भीतर में उनकी नकल भी करना चाहे तो नहीं कर सकता, रचना तो दूर की बात है । यह मौलाना फ़ैज़ी के "तिलिस्म होशरुबा" की तारीफ़ है जिसके पचीसों हज़ार सफ़्हे तेरह साल के सबाब में दो-तीन बरस के दौरान में पढ़े और और भी न जाने कितना कुछ पढ़ डाला जैसे रेनाल्ड की "मिस्ट्रीज़ आफ द कोर्ट आफ़ लंदन" की दर्जनों किताबों के उर्दू तर्जुमे, मौलाना सज्जाद हुसैन की हास्य-कृतियाँ, "उमराव जान अदा" के लेखक मिर्ज़ा रुसवा और रतननाथ सरशार के ढेरों किस्से । उपन्यास ख़तम हो गये तो पुराणों की बारी आयी । लखनऊ नवलकिशोर प्रेस ने बहुत से पुराणों के उर्दू अनुवाद छापे थे, उन पर टूट पड़ा । "[75]

प्रेमचन्दजी का जन-जीवन का अध्ययन तो सूक्ष्म व गहरा था ही साहित्य और दर्शन का अध्ययन भी बहुत तगड़ा था । "अपने पुरोगामी तथा समकालीनों में प्रेमचन्दजी ही मात्र ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने विश्व-साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों का सर्वाधिक अध्ययन किया था । किशोर-काल में ही उन्होंने बहुत कुछ पढ़ डाला था । "[76] लिखने से पहले उन्होंने जो तैयारी की थी, उसका कुछ ब्यौरा तो प्रथम अध्याय में दिया जा चुका है, अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति न करते हुए इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रेमचन्दजी लिखने से पहले और लेखन के दौरान भी विश्व की श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों के पठन से स्वयं को विभूषित करते रहे हैं । यह भी उनके लेखकीय संघर्ष का ही एक पहलू है ।

प्रेमचन्द ने अपने "उपन्यास" नामक लेख में लिखा है —"लेखकों के लिए नोटबुक का रखना बहुत आवश्यक है । कोई नई चीज़, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है । .... यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा । देखिए, एक उपन्यासकार की नोटबुक का नमूना — अगस्त 21, 12 बजे दिन ; एक नौका पर आदमी, श्याम वर्ण, दुबला शरीर, आँखें

तिरछी , पलकें भारी , ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे , मूँछें ऐंठी हुईं । " " सितम्बर । , समुद्र का दृश्य , बादल श्याम और श्वेत , पानी में सूर्य का ~~प्रतिबिम्ब~~ प्रतिबिंब काला , हरा , चमकीला ; लहरें फेनदार , उनका ऊपरी भाग उजला । लहरों का शोर , लहरों के छींटे से झाग उड़ती हुई । " "उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहाँ से मिलते हैं ? तो आपने कहा , " चारों तरफ़ से । " अगर लेखक अपनी आँखें खुली रखें , तो उसे हवा से भी कहानियाँ मिल सकती हैं । " 77

ऊपर के उद्धरण से इतना तो सिद्ध होता है कि प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों और कहानियों में [illegible] एवं वास्तविकता तथा स्वाभाविकता के निर्वाह के लिए कितना [illegible] रहते होंगे और उसके लिए कितनी मेहनत उठाते होंगे । इसे कुछ [illegible] संघर्ष का एक पहलू ही समझना चाहिए : रात-रात भर बैठकर पढ़ना-लिखना यह कोई आसान काम नहीं है , और खासकर जब [illegible] कोई आर्थिक पहलू न हो । प्रेमचन्द ने जितनी मेहनत इधर लिखने में की उतनी और कहीं करते तो काफ़ी कुछ कमा सकते थे । डा. राही मासूम रज़ा का एक वक्तव्य बड़ा प्रसिद्ध है कि "आधागांव" लिखने में जितना समय उन्हें लगा और उसके एवज में उन्हें जो पारिश्रमिक मिला , उसका यदि ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाय तो प्रति दिन बारह आने का हिसाब बैठता है । उसी प्रकार कार्ल मार्क्स के "दास कैपिटल " से उन्हें जो हासिल हुआ उससे कई गुना ज्यादा की तो वे सिगरेट फूंक गए थे उसे लिखने के दौरान । एक-एक दृश्य , एक-एक पात्र का अंकन , एक-एक प्रसंग का निरूपण करने में लेखक जो श्रम लेते हैं उसका कोई सानी नहीं है । हाँ , जिनके निकट केवल पैसों का ही महत्त्व है , ऐसे लोगों को ये लेखक और कवि आलसी और निकम्मे लग सकते हैं । इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एक कथन ध्यानार्ह होगा — " वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थ-बुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते । उनकी यही विशेषता अर्थपरायणों को — अपने काम से काम रखनेवालों को — एक त्रुटि-सी

जान पड़ती है । कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों , यह बात नहीं है । पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता है । "[78] यहां "अर्थियों" शब्द पर जो श्लेषजन्य व्यंग्य है , वह समझने लायक है ।

प्रेमचन्दजी को उनके जीवनीकारों में से एक ने — श्रीयुत् मदनगोपाल— "कलम का मजदूर" कहा है , क्योंकि जब से उन्होंने लिखना आरंभ किया , तब से यात्रा और बीमारी के दिनों को छोड़कर वे नियमित रूप से आठ घण्टा लिखते थे । निगम साहब तथा ताज और अन्य लोगों पर लिखे उनके पत्रों से भी उनका यही कर्म-संघर्ष झलकता है ।

रात-दिन लिखना , निरंतर लिखना और शोषित-पीड़ितों के पक्ष में लिखना यही उनकी फितरत होती जा रही थी । स्वास्थ्य साथ नहीं दे रहा था , पर फिर भी साहित्य की चिंता उन्हें खाये जा रही थी । 18 जून 1936 , गोर्की की मृत्यु , कै पर कै हो रही है । शरीर बेहद कमजोर हो गया है । पर आप हैं कि गोर्की की शोक-सभा में जाने के लिए बेकरार हो रहे हैं । देखिए — " दूसरे दिन मीटिंग में जाने को तैयार हुए तो पत्नी ने कहा — आप चल तो सकते नहीं , नाहक जा रहे हैं । मुंशीजी ने कहा — पैदल तो जा नहीं रहा हूं । तांगे पर जाना है । पत्नी ने कहा — जाने पर तो चढ़ना-उतरना है ? मुंशीजी किसी तरह रुकने के लिए तैयार नहीं हैं । बोले — यह तो लगा ही रहता है ... मीटिंग से घर लौटे और ऊपर चढ़ने लगे तो बहुत बचाने पर भी उनके पैर लड़खड़ा गये । किसी तरह ऊपर पहुंचे और लेट गये । थोड़ा सुस्ता लिया तो बोले — भाषण पढ़ना तो दूर रहा , मैं वहां खड़ा भी न हो सका । एक और महाशय से पढ़वाया ... "[79]

इससे साहित्य के प्रति तथा दलितों के प्रति जो उनकी प्रतिबद्धता थी , वह साफ़-साफ़ झलकती है । गोर्की उनके लिए कोई व्यक्ति नहीं , प्रतीक है , मसीहा है , जो इस सिसकती मानवता के लिए लड़ रहा है , लिख रहा है ।

मुंशीजी अपने अंतिम दिनों में किस प्रकार का संघर्ष कर रहे थे अपने शरीर एवं साहित्य के साथ उसका एक उदाहरण दिनांक 28 जुलाई को जनाब अख़्तर हुसैन रायपुरी पर लिखे उनके पत्र से प्राप्त होता है । उन दिनों उनकी तबियत बहुत ही ख़राब चल रही थी । बचने की उम्मीद नहीं थी । यह सन् 1936 के जुलाई की बात है । लखनऊ इलाज के लिए जाने की सोच रहे थे । उन दिनों "हंस" उनके पास नहीं था और लिहाज़ा उसकी पिछली भी ख़त्म हुई थी । आप लिखते हैं — " अब मेरा किस्सा सुनो । मैं करीब एक माह से बीमार हूं । मेदे में गेस्ट्रिक अल्सर की शिकायत है । मुंह से ख़ून आ जाता है , इसलिए काम कुछ नहीं करता । दवा कर रहा हूं मगर अभी तक कोई इफ़ाका नहीं । अगर बच गया तो "बीसवीं सदी" नामका रिसाला अपने लोगों के ख़्यालात की इशाअत के लिए ज़रूर निकालूंगा । "हंस" से तो मेरा ताल्लुक टूट गया । मुफ़्त की सरदर्दी । बनियों के साथ काम करके शुक्रिए की जगह यह सिला मिला कि तुमने "हंस" में ज्यादा रुपया सर्फ़ कर दिया । इसके लिए मैंने दिलोजान से काम किया , बिल्कुल अकेला , अपने वक़्त और मेहनत का कितना ख़ून किया , इसका किसीने लिहाज़ न किया । मैंने `हंस` उन लोगों को इस ख़्याल से दिया था कि वह मेरे प्रेस में छपता रहेगा और मुझे उसकी जानिब से गूना बेफ़िक्री रहेगी । लेकिन अब वह दिल्ली में सस्ता साहित्य मंडल की जानिब से निकलेगा और इस तबादले में परिषद को अंदाजन पचास रुपये महीने की बचत हो जायगी । मैं भी ख़ुश हूं । `हंस` जिस लिटरेचर की इशाअत कर ~~xxxx~~ रहा था , वह हमारा लिटरेचर नहीं है । वह तो वही भक्तिवाला महाजनी लिटरेचर है जो हिन्दी ज़बान में काफ़ी है ..."[80]

किन्तु "हंस" के दिल्ली जाने की नौबत नहीं आई । अगला अंक में सेठ गोविन्ददास का "सिद्धान्त स्वातंत्र्य" नामक नाटक प्रकाशित हुआ , जिसे लेकर सरकार ने "हंस" से पुनः जमानत माँगी । जमानत भरने के बदले परिषद ने उसे बन्द करना ही बेहतर समझा । प्रेमचन्द ने जब सुना तो ताव में आ गये और शिवरानीदेवी से कहकर जमानत भरवा दी । "हंस" को वह अपना तीसरा बेटा मानते थे ।

यह साहित्य का संघर्ष केवल उन्होंने स्वयं को स्थापित करने हेतु किया हो ऐसा नहीं है । अन्यथा वे केवल अपने लेखन की चिंता करते । परंतु उन्हें तो समूचे हिन्दी साहित्य की चिंता थी । हिन्दी साहित्य की तात्कालीन दरिद्रता से वह बहुत खिन्न रहते थे । अतः "हंस" और "जागरण" जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने कई लोगों को लिखने के लिए प्रेरित किया । इसके कारण उन्हें बहुत संघर्ष करना पड़ा । परंतु उन्होंने अपनी वैयक्तिक चिंता कभी नहीं की । इसीलिए डा. रामविलास शर्मा उनको "युगनिर्माता" कहते हैं । भारतेन्दु और पं. महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने भी आधुनिक काल में युगनिर्माता का कार्य किया , परंतु प्रथम के पास जहाँ अतुल संपत्ति का बल था वहाँ दूसरे के पास एक संस्था की ताकत थी ।

अपने अंतिम दिनों में भी , शरीर का बुरा हाल होने पर भी वे सदैव साहित्य की ही चिंता करते थे । "मंगलसूत्र" उन्हीं दिनों में लिखा जा रहा था । एक दिन गंगाप्रसाद मिश्र से "पिकविक पेपर्स " लाने को कहा । शाम को जब वह पुस्तक लेकर पहुँचे तो मुंशीजी ने बना-वटी स्नेहयुक्त गुस्सा जताते हुए कहा कि तुम कहानियां लिखते हो आज तक बताया क्यों नहीं । मुंशीजी के बहुत आग्रह पर घर जाकर अपनी "महराजिन" कहानी ले आये । कहानी को सुनते ही मुंशीजी उछल पड़े -- " वाह तुमने तो मेरी कलम छीन ली । क्या चित्र खींचा है । " इस पर अमृतराय की टिप्पणी है -- " कहाँ यह दिल खोलकर दूसरे का दिल बढ़ाना और कहाँ दूसरों की शब्द-कृपणता , हाँ ... अच्छी है .... लेकिन .... । " 81

इस प्रकार न केवल उन्होंने अपने साहित्यिक अस्तित्व के लिए संघर्ष किया , बल्कि दूसरों के लिए भी खूब संघर्ष किया । दूसरे यह जो साहित्य का पथ है , उसमें भौतिकता और ऐश्वर्य के अनेक प्रलो-भन आड़े आते हैं । यदि मुंशीजी ने इन प्रलोभनों के आगे घुटने टेक दिए होते तो शायद वे यह सब न कर पाते , जो उन्होंने किया । अतः जब-जब xxxx धन-प्राप्ति का कोई बेहतर रास्ता उनके सामने खुलने लगा

साथ-साथ गजब के आत्मविश्वास के साथ उन्होंने उसे नकार दिया । सामर्थ्य न हो और कोई गरीबी में जीवन व्यतीत करे तो उसे सामान्य कहा जायगा । परंतु सामर्थ्य होते हुए गरीबी और अभाव के मार्ग को चुनना यह साधना है, संघर्ष है ।

साहित्य के इस महारथी को अपने क्षेत्र में भी कम नहीं जूझना पड़ा । प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यास साहित्य अविकसित था । उसे तिलस्म एवं ऐयारी के दलदल से बाहर लाने का कार्य मुंशीजी ने ही किया । सामाजिक उपन्यासों को सामान्य रम्याख्यानों की कोटि से सामाजिक यथार्थ के उच्च आसन पर स्थापित करना कोई कम साहस का कार्य नहीं है । उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर भी कीचड़ उछालने का व्यवस्थित षडयंत्र चल रहा था । यह विशेष दुःख की बात है कि यह "पगड़ी-उछाल" कार्यक्रम "सरस्वती" और "समालोचक" जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के द्वारा चलाया जा रहा था ।

ठाकुर श्रीनाथसिंह तथा श्रीयुत् ज्योतिप्रसाद "निर्मल" ने प्रेमचन्दजी पर जातिवाद का आरोप लगाया और प्रमाणित करने की चेष्टा की कि प्रेमचन्द अपने साहित्य के द्वारा ब्राह्मणों के खिलाफ प्रचार करते हैं और उनके विरुद्ध में घृणा फैलाते हैं । इसका उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है कि " लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं, एक महान पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुँचता है । लोभी दंभी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता । " 82

प्रेमचन्दजी की एक कहानी "मोटेराम शास्त्री" जनवरी 1928 के माधुरी अंक में प्रकाशित हुई । इस कहानी में उन्होंने एक ढोंगी और कामी वैद्य की खिल्ली उड़ाई थी किसी ने एक पंडित शालिग्राम शास्त्री को बरगलाया कि यह कहानी उन्हीं को आधार बनाकर उनकी बदनामी करने के लिए लिखी गई है । शास्त्रीजी ने प्रेमचन्द तथा पं. कृष्णबिहारी मिश्र पर 500-500 रुपये का दावा ठोक दिया ।[83] परंतु जब संपादकों ने अदालत को विश्वास दिलाया

कि यह एक कुत्सित वैद्य पर व्यंग्य प्रहसन मात्र है , शास्त्रीजी से उसका कोई संबंध नहीं है , तो अदालत ने उन्हें निर्दोष करार दिया ।

ऐसे ही अवध उपाध्याय ने प्रेमचन्दजी पर साहित्यिक चोरी का आरोप लगाते हुए उनके उपन्यास "रंगभूमि" और "प्रेमाश्रम" प्रश्न को क्रमशः थैकरे कृत "वैनिटी फेयर" तथा "श्रिवके टाल्सटोय कृत "रिजरेक्शन" की नकल घोषित किया । प्रेमचन्दजी ने इसका उत्तर बड़े सशक्त शब्दों में दिया — " लेख के भाव , भाषा और शैली से विदित होता है कि किसी स्कूली लड़के ने लिखा है जिसने मेरी कोई रचना पढ़ी ही नहीं । उनसे मेरा आग्रह है कि कृपया एक बार धैर्य रखकर "रंगभूमि" पढ़ जाइए । जिसने "वैनिटी फेयर" और "रंगभूमि" दोनों पढ़ा है वह कभी ऐसी बेतुकी बातें नहीं लिख सकता । "वैनिटी फेयर" आसमान पर हो , "रंग-भूमि" जमीन पर , पर है वह "रंगभूमि" । रहा "प्रेमाश्रम" पर "रिजरेक्शन" का प्रभाव । इसके विषय में यही कहना है कि अभी मैंने "रिजरेक्शन" नहीं पढ़ा है और अगर बिना इसके पढ़े भी "प्रेमाश्रम" में "रिजरेक्शन" के भाव आ गये हैं तो यह मेरे लिए गौरव की बात है । अभी जिन्दा रहा तो बहुत कुछ लिखूंगा और मेरे भावों और विचारों में उच्च कोटि के लेखकों जैसी बहुत-सी बातें आवेंगी । आप जो अच्छी पुस्तक देखेंगे वही मेरी किसी पुस्तक से मिलती-जुलती जान पड़ेगी । कारण यही है कि मैं अपने प्लाट जीवन से लेता हूं , पुस्तकों से नहीं , और जीवन सारे संसार में एक है । " 84

जिस लेखक ने हिन्दी भाषा और साहित्य का गौरव बढ़ाया हो , जिसके कारण हिन्दी कहानी और उपन्यास को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अंगीकृत किया गया हो , उसके साथ ऐसी ओछी हरकतें , हमारे छिछोरेपन और ओछेपन को ही सिद्ध करती हैं । हम मृत लोगों की पूजा करने वाले लोग हैं । मरे बाद जो प्रेमचन्द इतने बड़े हो गये , उनकी जीते जी हमने कितनी दुर्गति की थी उसका एक दूसरा उदाहरण भी मिलता है , जिसमें नकल करने को प्रेमचन्द को कोई और नहीं मिला तो प्रेमचन्द ने उस लेखक की नकल की । उसका

प्लोट चुराया । ऐसा वाहियात आरोप रखने वाले थे वही श्रीनाथसिंह जो पहले भी प्रेमचन्दजी को ऐसी चोटें पहुँचा चुके थे । सन् 1935 में "सरस्वती " में उन्होंने एक लेख लिखा — " प्रेमचन्दजी की रचना-चातुरी का नमूना" — और उसमें यह दिखाने की कोशिश की कि मुंशीजी ने " जीवन का शाप " उनके उपन्यास "उलझन" से चुरायी है । इसका बड़ा करारा उत्तर मुंशीजी ने "हल्दी की गांठवाला पंसारी" लेख में दिया । उसमें मुंशीजी ने बताया कि ठाकुर साहब को ख़फ़क़ान या मालीखुलिया का रोग हो गया है और उन्हें किसी मनो-चिकित्सक से अपना इलाज कराना चाहिए । "माली खुलिया के लक्षण यही हैं कि उसका रोगी समझता है, लोग उसका आत्म-अपहरण किये लिये जा रहे हैं और वह अंधे कुत्ते की भांति बातों भौंकने लगता है । ... "जीवन का शाप" और "उलझन" में आपने जो सादृश्य दिखाया है, उसे पढ़कर हंसी आती है । अगर दोनों में यही बात है कि दोनों के हीरो गरीब, विद्वान, मेहनती और संतोषी है और उनकी पत्नियाँ कटुभाषिणी हैं, और दोनों के उपनायक धनी व्यापारी हैं और उनकी महिलाएं पति से असंतुष्ट हैं, तो मैं कहूंगा कि ठाकुर साहब ने मेरे "सेवासदन" से प्लोट भी उड़ाया है, चरित्र भी और समस्या भी । " 85

इस प्रकार अनेक मसलों को लेकर प्रेमचन्दजी को अपने कई सम-कालीनों से जूझना पड़ा है । प्रेमचन्दजी पहले उर्दू में "नवाबराय" नाम से लिखते थे, पर उनके कहानी-संग्रह "सोज़ेवतन" के कारण उन्हें अंग्रेज सरकार का कोपभाजन होना पड़ा और "नवाबराय" की बनी-बनायी प्रतिष्ठा का त्याग कर हिन्दी में "प्रेमचन्द" के नाम से नयी सिरे से नया दाव करना पड़ा । इसके लिए प्रेमचन्द ने हिन्दी को सीखा भी । यह भी एक किस्म का संघर्ष ही है ।

अध्याय के अंत में निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उनकी समूची ज़िन्दगी तरह-तरह के संघर्षों से गुजरी है और इस तपिश ने ही प्रेमचन्द के कुंदन को अधिक शुद्ध व तेजस्वी किया है । प्रेमचन्द भी शायद कह सकते हैं — "मिली होती अगर खुशियां तो कितने बेजुबां होते । "

==== XXXXX =====

:: संदर्भिका ::

§1§ [illegible] गुजराती निबंधमाला : डा. वी.ए. शाह :पृ. 176 ।

§2§ द्रष्टव्य : काव्य के रूप : डा. गुलाबराय : पृ. 233 ।

§3§ मौखिक परंपरा से ।

§4§ [illegible] में : व्यंग्य निबंध : भूमिका से ।

§5§ मेरी तैंतीस कहानियाँ : शैलेश मटियानी : भूमिका से : पृ. 25 ।

§6§ द्रष्टव्य : त्यागपत्र : पृ. 40 ।

§7§ लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : डा. मनोहर बंदोपाध्याय : पृ.3 ।

§8§ देखिए : कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 7 ।

§9§ लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : पृ. 4 ।

§10§ वही : पृ. 4 ।

§11§ द्रष्टव्य : कलम का मजदूर : मदनगोपाल : पृ. 15-16 ।

§12§ वही : पृ. 21 ।

§13§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 20 ।

§14§ लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : पृ. 5 ।

§15§ द्रष्टव्य : कलम का सिपाही : पृ. 20 ।

§16§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 20 ।

§17§ वही : पृ. 19 ।

§18§ द्रष्टव्य : कलम का मजदूर : पृ. 21 ।

§19§ द्रष्टव्य : " प्रेमचन्द जीवन कला और कृतित्व " : डा. हंसराज रहबर : पृ. 4 ।

§20§ कर्मभूमि : प्रेमचन्द : पृ. 114-115 ।

§21§ द्रष्टव्य : " प्रेमचन्द जीवन कला और कृतित्व " : पृ. 7 ।

§22§ "चोरी" कहानी : मानसरोवर भाग-5 : पृ. 111-112 ।

§23§ कलम का सिपाही : पृ. 32 ।

§24§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 32-33 ।

§25§ वही : पृ. 34 ।

§26§ कलम का सिपाही : पृ. 34 ।

§27§ वही : पृ. 7 ।

§28§ कलम का मजदूर : पृ. 15 । §29§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 15-16 ।

§30§ सी , लाइफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : पृ. 4 ।

§31§ कलम का मजदूर : पृ. 16 । §32§ वही : पृ. 16 ।

§33§ लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : पृ. 9-10 ।

§34§ प्रेमचन्द और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 101 ।

§35§ लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : पृ. 27 §36§ उपिड : पी. 24 ।

§37§ पुरे लेखन के पुन्नों पर : डा. पारूकांत देसाई ; पृ. 11 ।

§38§ प्रेमचन्द घर में : शिवरानीदेवी : पृ. 49 ।

§39§ द्रष्टव्य : कलम का सिपाही : पृ. 193-194 ।

§40§ कलम का सिपाही : पृ. 365 ।

§41§ देखिए : प्रेमचन्द और उनका युग : पृ. 190-191 ।

§42§ देखिए : वही : पृ. 190-191 ।

§43§ प्रसाद का काव्य : डा. प्रेमशंकर : पृ. 43 ।

§44§ लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : पी. 139 ।

§45§ प्रेमचन्द घर में : पृ. 226 ।

§46§ वही : पृ. 264 ।

§47§ शताब्दी के ढलते वर्षों में : निर्मल वर्मा : पृ. 209 -211 ।

§48§ कलम का सिपाही : पृ. 34 ।

§49§ लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : पी-8 ।

§50§ द्रष्टव्य : कलम का मजदूर : पृ. 10 §51§ द्रष्टव्य : वही:329-330

§52§ कलम का सिपाही : पृ. 426 §53§ वही : पृ. 439 ।

§54§ द्रष्टव्य : नदी नहीं मुड़ती : भगवतीशरण मिश्र : पृ.36 ।

§55§ द्रष्टव्य : उग्रतारा : नागार्जुन : पृ.42 ।

§56§ कलम का सिपाही : पृ. 45 । §57§ वही : पृ. 43-44 ।

§58§ वही : पृ. 46-47 ।

§59§ "लीज़" एलिज़ाबेथ टेलर का प्यार का नाम है । पश्चिम की इस अभिनेत्री ने ब्याह करने और तलाक लेने में नया कीर्तिमान स्थापित किया है ।

{60} डा. पारूकांत देसाई : सूखे सेमल के वृन्तों पर : पृ. 76 ।

{61} प्रेमचन्द घर में : पृ. 11 {62} वही : पृ. 162 ।

{63} कलम का सिपाही : पृ. 44 {64} वही : पृ. 44 ।

{65} कुछ विचार : प्रेमचन्द : पृ. 82 ।

{66} आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर में दिए गए भाषण का अंश : कुछ विचार : पृ. 89 ।

{67} डा. पारूकांत देसाई : सूखे सेमल के वृन्तों पर : पृ. 50 ।

{68} लाइफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : पी-2 ।

{69} वही : पी- 12 ।

{70} कलम का मजदूर : पृ. 30-31 {71} वही : पृ. 31 ।

{72} वही : पृ. 28 {73} वही : पृ. 29 ।

{74} मानसरोवर : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 19 ।

{75} डा. पारूकांत देसाई : युगनिर्माता प्रेमचन्द : पृ. 10 ।

{76} चिंतामणि भा-1 : " कविता क्या है ? " नामक निबंध : पृ. 127 ।

{77} कुछ विचार : प्रेमचन्द : पृ. 56-57 ।

{75} कलम का सिपाही : पृ. 26 ।

{79} कलम का सिपाही : पृ. 632 । {80} वही : पृ. 638 ।

{81} वही : पृ. 640 {82} वही : पृ. 530 ।

{83} प्रेमचन्द घर में : पृ. 86 ।

{84} कलम का सिपाही : पृ. 385 ।

{85} वही : पृ. 603 ।

===== XXXXX ====